कुन्ती--एक माँ

शिवाशङ्कर त्रिवेदी

सृजन-चेतना प्रकाशन

□ प्रकाशक

सृजन चेतना

सरदारशहर [राज०]

□ मूल्य साढ़े दस रुपये

□ प्रकाशन तिथि

फरवरी १२, १९७१

□ मुद्रक

त्रिवेदी मुद्रणालय

सरदारशहर [राज०]

तुम्हे क्या दे सका
मेरे
प्रिय दयाशकर ।

कृती : एक परिचय

उत्तरप्रदेश के बलिया जनपद में गंगा-सरयू के संगम का समीपवर्त्ती क्षेत्र द्वाबा सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से ख्यातिप्राप्त क्षेत्र है। रेलवे लाइन से उत्तर के द्विजवपुर, नारायणगढ़ एवं अन्य तटीय गांवों को सरयू अपने अंक में समेटे रहना चाहती है। हरीतिमा एवं सौन्दर्य से लदे आम, अमरूद, महुआ, जामुन तथा अन्यान्य वृक्ष प्रकृति को जहां एक विशेष रंगीनी से भर देते हैं, वहां सस्य से पुलकित धरती का कण-कण जीवन की उष्मा का सन्देश देता रहता है। सावन-भादों में बादल जब अपनी सामान्य ऊंचाई से बहुत नीचे आकर सरयू की अपार जल-राशि पर बरसने लगते हैं, तब वहां एक विलग दृश्य ही उभर आता है।

प्रातःकाल का समय था। आकाश मेघों से आच्छन्न था। पुरवाई के संकेत से सरयू का सारा जल लहरों में चढ़ आने को बेचैन-सा दिखाई दे रहा था। भरी हुई सरयू की धारा हाहाकार कर रही थी। प्रकृति के इसी परिवेश में जन्मे-पले तीन अधनंगे बच्चे तट पर खड़े थे। लहरें उनके पैरों को छपाक्-छपाक मार रही थीं। संकल्प उठा—उस पार सामने के तट पर पहुंचना है। डेढ़ मील विस्तार वाले पाट को चुनौती मिली। पहले सबसे लम्बे बालक ने छलांग लगाई, फिर दूसरे और तीसरे ने। पलक मारते वे बीच धारा में थे। थकान बढ़ने लगी, धारा का वेग भी उमड़ने लगा। अब तीनों ही किनारे की ओर कम, धारा के साथ अधिक बहने लगे। शरीर के जोड़-जोड़ थकान से पस्त पड़ गए, आंखों के आगे

अंधेरा-सा छाने लगा और मन पर निराशा का अधिकार होने लगा। दोनों बालकों ने लम्बे लड़के की ओर देखा। उसकी आंखों में और चेहरे पर संकल्प की दृढ़ता थी, अधरों पर हार को जीत में बदलने का निश्चय था। फिर क्या था दोनों ने फंसकर प्रवाह को नापना प्रारम्भ किया और किनारा सरककर पास आ गया।

सबसे लम्बे बालक श्री त्रिवेदी थे। उनके साथ रहने वालों ने देखा है—अबोध अवस्था में होने वाली यह घटना उनके जीवन का क्रम बनी रही है। अब भी वे धाराओं में उगे रहते हैं और सदैव किनारे की ओर बढ़ते दिखाई देते हैं। बाधाओं और उलझनों की धाराएं उनकी शारीरिक शक्ति और मनोबल को न तो थका पाई है और न थका पाएंगी। क्षणों का उपयोग हार को जीत में बदलकर जितना उन्होंने किया है, अन्य किसी ने शायद ही किया हो।

प्रारम्भ से ही साहित्य में रुचि, विशेषतः काव्य में। हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी से बी० एस-सी० किया किन्तु डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति दिग्गज विद्वानों के वक्तव्यों का श्रवण-मनन करते रहे। सिसवन (बिहार) में आदर्श एवं सफल अध्यापक रहकर दो वर्ष बिताए। निर्णायक क्षण अनेक आए– किन्तु राजनीति के प्रलोभनों को सदैव ही पैरों से ठुकरा दिया। अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में आए तो उसके सौन्दर्य में रम गए। आंग्ल साहित्य की मौलिक उपलब्धियों से विशेष प्रेरणा ग्रहण की। पाश्चात्य साहित्यकारों की भावुकता, जीवन को साहित्य के लिए समर्पित कर देने की लगन से अप्रभावित नहीं रह सके– मिल्टन, शेक्सपियर, कीट्स, हार्डी और ईट्स से विशेष लगाव रहा। अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० करते समय यह समय के साहित्य में विशिष्टता प्राप्त की। गणित, विज्ञान, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिर्विज्ञान योग, राजनीतिशास्त्र आदि के ज्ञान से मस्तिष्क को दृढ़-पुष्ट कर लेने के उपरान्त भी

उनका सरल जीवन करुणा एवं ममता से अधिक गतिशील है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण सधा हुआ तथा सन्तुलित है।

श्री त्रिवेदी में सत्य-प्रियता और स्पष्टवादिता कूट-कूट कर भरी है। वे सत्य का समर्थन करेंगे ही, चाहे वह कितनी भी विषम परिस्थितियों में उलझा हुआ हो। अधिकांश समय दूसरों के सहयोग में व्यतीत होता है, शेष अध्ययन में। लेखन के लिए वे कम समय निकाल पाते हैं। वे एक प्रभावशाली वक्ता हैं। संघर्षों ने स्वीकार कर लिया होगा कि उनका मानसिक सन्तुलन अविचल है, विषम परिस्थितियों ने सदैव देखा है कि उनके चरण सधे हुए हैं। वे एक ईमानदार और गहरे मित्र हैं। विभिन्न विषयों के तल तक शीघ्र ही पहुँच जाने वाली तीव्र बुद्धि के धनी होकर भी जीवन को आत्मीयता से आँकते हैं। सरल विनोद एवं सहज स्वभाव के कारण वे सदैव से बहुतों के अपने रहे हैं। चिन्तन मौलिक है और इसका कारण निश्चित ही अधिक पूर्ण जीवन है। व्यवहार के भाग को आत्मीयता से सदैव समतल बनाए रखने के स्वभाव-वश ही वे जिम्मेवारियाँ स्वयं लेने और श्रेय दूसरों को दिलाने के अभ्यस्त हैं।

श्री त्रिवेदी ने गीत, शब्द-चित्र, उपन्यास और महाकाव्य लिखे हैं, जो क्रमशः प्रकाशन की ओर हैं। इनका साहित्य जीवन से गुंजित है। जीवन और काव्य दोनों में ममता और करुणा प्रधान अवयव हैं। 'सोनवा', 'राम का रावण को पत्र' आदि कृतियाँ हमारे साहित्य की ऐतिहासिक उपलब्धि होंगी।

बाल्य-काल से ही हम अभिन्न-से रहे हैं। इस शंका से कि इनकी प्रशंसा के शब्द कहीं आत्मश्लाघा न बन रहे हों, मैं वास्तविक के कथन में भी कृपण रह गया हूं। कृती का अधिक परिचय कृति ही दे, तो उत्तम रहेगा।

— कमलकान्त सिंह

प्राक्कथन

महाभारत की विनाश-लीला के उपरान्त, द्वापर का एक म्लान दिवस। निस्तब्ध एवं वीरान-सी प्रकृति। युद्ध के हुताशन में आहुति बने वीरों के स्वजन पयाञ्जलि समर्पित करने के लिए मन्दाकिनी के शिथिल तट पर एकत्रित हैं– आबाल-वृद्ध, नर-नारी। दिन भर पयदान चलता है, अब रवि अस्ताचल की ओर ढल रहा है।

तभी अचानक शोक-कंपिता कुन्ती के आर्त्त विलाप से पवन पेटियाँ झनझना उठती हैं। युगों से उसके अन्तस में छटपटाता द्वन्द्व अब आन्दोलन कर चुका है। वह अपने विजयी पुत्रों के समक्ष एक विस्मयकारी कथा का अनावरण करती है– वह महा यशस्वी कर्ण (यस्य नास्ति समो वीर्ये पृथिव्यामपि पार्थिव) राधेय नहीं, सूत-पुत्र नहीं, कौन्तेय था– पाण्डवों का अग्रज, कुन्ती का ज्येष्ठतम पुत्र। वह कर्ण की आत्मा को भी पयाञ्जलि समर्पित करने का आग्रह करती है—

कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः।
स हि वः पूर्वजो भ्राता, भास्करान्मय्य जायत॥

(महाभारत, स्त्री पर्व, अध्याय २७-१२)

* * *

कुन्ती ने कर्ण को उस समय जन्म दिया था, जब वह अपरिणीता थी। शास्त्रपोषी समष्टि, परम्पराबद्ध आचार एवं सामाजिक मर्यादाओं के आतंक तथा उपहास के भय ने उसे उद्विग्न कर दिया। उसने वात्सल्य के उमड़ते वेग को संयम की शिलाओं से दबाकर, भावों को जकड़कर नवजात को मंजूषाबद्ध किया और छिपकर जाह्नवी की धारा में प्रवाहित कर दिया। उसके बौने तर्क ने स्वीकृति दे दी— कलंक बह गया, वात्सल्य मुक्त हो गया, यौवन अकलुष हो गया।

राधा ने मंजूषा पाई, नवजात को मुक्त कर अपने अंक में समेट लिया, मातृत्व के पावनतम आयोजन के साथ उसे अतुल स्नेह, सम्यक संरक्षण एवम् पोषण दिया। भविष्य ने देखा— कर्ण अद्वितीय यशस्वी, तेजस्वी, दानी और धनुर्धर है।

महाभारत काल तक यह मान्यता कि पयाञ्जलि से वंचित मृतात्माएं अनन्त में भटकती रह जाती हैं, शान्ति नहीं प्राप्त कर पातीं— आर्य-मानस का विश्वास बन चुकी थी। इसी धारणा ने कुन्ती के अन्तस् को झकझोरा और वात्सल्य ने प्रथाओं-परम्पराओं के शिला-खण्डों को उछाल फेंका — नारी रूप, मानवी रूप की शिखा प्रज्ज्वलित हो उठी।

प्रसंग वस्तुतः एक शाश्वत काव्य के उपयुक्त है। प्रस्तुत काव्य इस दायित्व का निर्वाह किस सीमा तक कर सका है, सुधी पाठक विचार करें। कर्ण की शोक-बोझिल पत्नियों की जाह्नवी तट पर उपस्थिति किसी महत् काव्य का स्वतः सम्पूर्ण विषय है, अतः इस विषय को सायास विस्तार से वंचित रखा गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि

उनकी वेदना आद्यान्त कुन्ती की वेदना के समानान्तर प्रवाहित रहती चली जाएगी और यह प्रवाह काव्य को भाव की दृष्टि से सघन कर दे, सघनित करदे, स्थापनाओं की पृथकता के कारण आधुनिक परिवेश के अनुरूप नही होगा। इसे अवयवी एकाग्रता नहीं देना ही उचित रहेगा। इसी विचार से कतिपय अन्य प्रसगो (उत्तरा का आत्म-लोप, अर्जुन का आन्तरिक द्वन्द्व, आदि) को उभार का कृति सापेक्ष अनत्व ही दिया जा सका तथा उनके विस्तार वेग को अवयवी औचित्य के सयम सूत्र में सीमित कर दिया गया।

सर्ग-विभाजन का आधार कथा-प्रसग नहीं भावों तथा आवेगों की स्वाभाविक तथा क्रमिक प्रवाह दिशा है।

चरवाहों के बच्चे लम्बी कूद का अभ्यास करने के लिए जब जमीन खोदते हैं, तो छलांग लगाने के लिए एक सिरे पर कुछ मिट्टी एकत्र करके एक धूहा (पादपीठ) बना लेते हैं- इस ऊचाई को भूमिका भी कहा जाता है। 'सदर्भ' सर्ग काव्य के लिए इसी प्रकार की एक भूमिका है, जो एकाग्र वेग के पूर्व सम्पूर्ण बिखराव को समेट लेने का आग्रह है। प्रतीत हुआ कि भावोन्नयन का आग्रह लेकर चलने वाले काव्य का यह अनिवार्य अवयव होना चाहिए और इसमे समाधान की प्रशान्ति के अनुपात में ही अधिकाधिक वेग होना चाहिए।

सामाजिक मनस् की आधुनिक सश्लिष्टियों को बरकरार सहस्रों वर्ष पूर्व के मनस्-निर्मित वातावरण से उपमाएं एव योजनाएँ जुटाने में असीमता का तीव्र तनाव झेलना पड़ा। आधुनिक मुहावरों को यथा सम्भव दूर रखा गया, किन्तु मानवता के उगते हुए सूर्य की आस्था का प्रधान लक्ष्य रखा गया।

धन्यवाद-समर्पण द्वारा स्नेह व संरक्षण के ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता, किन्तु मैं समझ नहीं पाता कि श्रद्धेय भइया डॉ० उमाशंकर तिवारी की अनवरत प्रेरणाओं, सजग संरक्षक भाई श्री कमलकान्त सिंह जी की ओर से सतत सुलभ प्रोत्साहन व परामर्श तथा मेरी अकिञ्चनता में ही असीम गुरुत्व की विराटता देखने वाले प्रिय पद्माकर, हेमराज, भरत तथा सच्चिदानन्द की सत्कामनाओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के अतिरिक्त किस विकल्प का चयन करूं।

—शिवा शङ्कर त्रिवेदी



धन्यवाद-समर्पण द्वारा स्नेह व संरक्षण के ऋण से उऋण नही हुआ जा सकता, किन्तु मैं समझ नही पाता कि श्रद्धेय भइया डॉ० उमाशंकर तिवारी की अनवरत प्रेरणाओं, सजग संरक्षक भाई श्री कमलकान्त सिंह जी की ओर से सतत सुलभ प्रोत्साहन व परामर्श तथा मेरी अकिञ्चनता में ही असीम गुरुत्व की विराटता देखने वाले प्रिय पद्माकर, हेमराज, भरत तथा सच्चिदानन्द की सत्कामनाओ के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के अतिरिक्त किस विकल्प का चयन करू।

—शिवा शङ्कर त्रिवेदी



भाव लोक

कतिपय पाश्चात्य साहित्य-समीक्षकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि काव्य का युग अब अस्तप्राय है, काव्य का सृजन-कोष खाली हो चुका है और निकट भविष्य में ही काव्य का प्रवाह सदा के लिए अवरुद्ध हो जाएगा। आशंका के इस संकेत द्वीप का निर्माण स्पष्टत दो प्रभाव-स्रोत कर रहे हैं– एक आज के सामाजिक मनस् पर छाई हुई व्यस्तता, दूसरा आधुनिक काव्य का स्तर जो समीक्षकों की दृष्टि में प्राचीन काव्य वैभव की अपेक्षा बहुत क्षीण होकर टूटती-सी गति से प्रवाहित हो रहा है।

इस आशंका अथवा निराशावादी दृष्टिकोण का प्रश्न प्रधान नहीं है, किन्तु यह आवश्यक है कि अपनी युग-चेतना के धरातल पर हम काव्य और जीवन का पुनरावलोकन करें। यहाँ युग-चेतना का एक विशिष्ट अर्थ है। जीवन क्रमश नवोन्मीलन की ओर बढ़ता है और प्रत्येक युग इसकी नई पखुरी है। हम चेतना की जिस स्थिति में हैं, वह हमारे चेतस् का स्तरीय स्वरूप है और यही हमारी युग-चेतना है। युग-चेतना का निरूपण तब तक छिछला होगा, जब तक हम जीवन की सभी अन्तर्बाह्य धाराओं को एक साथ नहीं देखते।

व्यस्तता और संघर्ष

मानव (मनस्) आज अधिक व्यस्त है। उसका मानसिक तनाव बढ़ गया है, उसका संघर्ष अधिक तीव्र और जटिल हो गया है। व्यस्तता तात्विक जीवन पर गर्द-स्वरूप है। हम व्यस्त हैं, किन्तु व्यस्तता हमारा अभिप्रेय नही है। हम संघर्ष-निरत हैं, किन्तु संघर्ष नहीं चाहते। व्यस्तता और संघर्ष का लक्ष्य व्यस्तता और संघर्ष से मुक्ति प्राप्त करना है। मानव संघर्ष से मुक्ति चाहता है, निर्द्वन्द्व अवकाश चाहता है। मनस् विज्ञान एवम् वैज्ञानिक यन्त्रों को अपना सारा संघर्ष, समुच्चय कार्य व्यापार सौंप देना चाहता है। यन्त्रों में मनस् की स्थापना का लक्ष्य वाह्य संघर्षों से अवकाश पाना है। हमारा मनस् इन व्यस्तताओं से, इन संघर्षों से ऊब गया है। वह पूर्ण अवकाश चाहता है। किन्तु हमारी व्यस्तताएं हैं, जो उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। अस्तित्व-संघर्ष की प्रत्यक्ष व्यस्तता के स्थान पर आज उलझन-भरे उपसंघर्षों की शृंखला जटिल हो गई है। जीवन की दिशा मनस् की क्रियाओं से अवकाश की ओर है। अवकाश किसलिए? यह मनस् के समाधान अथवा निरूपण का विषय नही है। जीवन मनस् की धारणाओं व मान्यताओं से प्रेरित या अनुशासित नही है। जीवन स्वयं प्रवह है, मनस् इसका पाथेय है।

मनस्

मनस् चेतना की एक त्वरित प्रक्रिया है। जब मनस् नहीं था, तब भी जीवन था। जहां मनस् नही है, वहां भी जीवन है। जब मनस् नहीं था, प्राणशरीरी जीवन के समक्ष तीखा अस्तित्व-संघर्ष था। यह संघर्ष 'आहार प्राप्त कर लेने' तथा 'आहार बनने से

बध जाने' तक केवल दुहरा ही नही था। केवल दुहरे सघष का विचार अति सकुचित है। जीवन को केवल शारीरिक युद्ध नही करना था। सर्दी-गर्मी, हवा-धूप, अन्धकार-प्रकाश आदि की प्रतिकूलताओ से भी जूझना था। प्रतिकूलताओ से जूझना था, उन्हे जीवन की अनुकूलता तक मोडना था। केवल इतना ही नही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु-परमाणुओ के अन्त स्तर की प्रतिक्रियाओं से भी, जिनका बिन्दु-रूप हमारे ज्ञान की परिचय सीमा मे आ चुका है, किन्तु सिन्धु-रूप अभी अज्ञात है, जीवन को जूझना था। आहार विहार की ससीमता में, शरीर के आयतन मे हम जीवन का अध्ययन नही कर सकते।

पृथ्वी का जन्म तथाकथित जड पदार्थ के रूप मे हुआ। चट्टानें हवा, पानी और धूप के प्रभाव से शनै शनै टूटी-बिखरी। टूट-बिखराव से बने पदार्थ ने टूट बिखराव की क्रिया को क्रमश त्वरित किया और वातावरण बनते ही प्राणशरीरी जीवो का उद्भव हुआ। टूट-बिखराव की इस कारणभूत क्रिया को हम रासायनिक क्रिया की सज्ञा देते हैं। प्राणशरीरी जीव भी इस रासायनिक क्रिया को गति देने के लिए ही उद्भूत हुए। आज भी हमारी प्राणशरीरी चेष्टाओं की दिशा यही है। किन्तु यह रासायनिक क्रिया स्वय जीवन अथवा जीवन का लक्ष्यीभूत प्रवाह नही है। यह एक भूमिका बन रही थी जडता के चिन्मयन की– अब भी यह भूमिका बनती जा रही है –पदार्थ का चिन्मयीभवन ही प्रकृति की दिशा है। चिन्मय की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए, पदार्थ के सम्पूर्ण चिन्मयीभवन के लिए जीवन का प्राणशरीरी अस्तित्व आवश्यक था। प्राणशरीरी के भीतर पोषण का मोह, भूख, दुःख और सुख की अनुभूति प्राकृतिक और

स्वाभाविक थी। आज भी यह आवश्यक है, अत चल रही है। यही चिन्मय की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष प्रवाह है, उसकी प्रकृति है।

अस्तित्व को यथावत् बनाए रखने की प्राकृतिक चेष्टा को वैज्ञानिक अध्ययन में जडत्व (Inertia) कहा जाता है। जडत्व नवरूपता के लिए स्वत ही प्रतिरोधी बन जाता है। इस प्रकार जड पदार्थों का जडत्व जीवन के विकास तथा चिन्मय की अभिव्यक्ति के मार्ग में प्रतिरोधी बल बन जाता है। वस्तुत जड पदार्थों की समग्र अन्तर्बाह्य शक्तियाँ प्राणशरीरी जीवन के अस्तित्व के लिए प्रतिरोधी या विरोधी बनी रही और अब भी हैं। इस स्थिति में जडत्वगामी शक्तियों की प्रतिक्रियात्मक शक्ति प्राणशरीरी मे स्वत ही उद्भूत हो गई। इस प्रतिक्रियात्मक शक्ति में विश्व की दृश्य-अदृश्य सभी क्रियाओं की, जो जीवन तथा चिन्मयन की विरोधिनी थी, प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ स्वत ही पुंजीभूत हो गईं। यह शक्ति प्रतिक्रियात्मक संस्कार है। प्रतिक्रियात्मक शक्तियो का यही पुञ्जीभूत स्वरूप हमारा मनस् है। अध्ययन-मनन की प्रयोजन-सुविधा के लिए हम एक दृश्य रूपक का सहारा लें, तो यो भी कह सकते हैं कि जडाभिमुख विश्व में प्राणशरीरी अस्तित्व के लिए घातक जितने भी क्रिया-सूत्र हैं, उन सभी के प्रतिक्रिया सूत्रों की समष्टि ही हमारा मनस् है। चूंकि जडत्वपोषी विश्व का समुच्चय व्यापार ही चिन्मयता का विरोधी है, अत मनस् समग्र विश्व के प्रतिक्रियात्मक संस्कार का संकलित स्वरूप है। मनस् जडत्वपोषी विश्व की समग्रता का सचेतन प्रतिबिम्ब है। जडत्वगामी विश्व जितनी शक्तियों का क्रियात्मक पुञ्ज है, मनस् उन सभी शक्तियों का प्रतिक्रियात्मक आयोजन है।

स्वाभाविक थी। आज भी यह आवश्यक है, अत चल रही है। यही चिन्मय की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष प्रवाह है, उसकी प्रकृति है।

अस्तित्व को यथावत् बनाए रखने की प्राकृतिक चेष्टा को वैज्ञानिक अध्ययन मे जडत्व (Inertia) कहा जाता है। जडत्व नवरूपता के लिए स्वत ही प्रतिरोधी बन जाता है। इस प्रकार जड पदार्थों का जडत्व जीवन के विकास तथा चिन्मय की अभिव्यक्ति के मार्ग मे प्रविरोधी बल बन जाता है। वस्तुत जड पदार्थों की समग्र अन्तर्वाह्य शक्तियाँ प्राणशरीरी जीवन के अस्तित्व के लिए प्रतिरोधी या विरोधी बनी रही और अब भी हैं। इस स्थिति मे जडत्वगामी शक्तियो की प्रतिक्रियात्मक शक्ति प्राणशरीरी मे स्वत ही उद्भूत हो गई। इस प्रतिक्रियात्मक शक्ति मे विश्व की दृश्य-अदृश्य सभी क्रियाओं की, जो जीवन तथा चिन्मयन की विरोधिनी थीं, प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ स्वत ही पुजीभूत हो गईं। यह शक्ति प्रतिक्रियात्मक सस्कार है। प्रतिक्रियात्मक शक्तियो का यही पुञ्जीभूत स्वरूप हमारा मनस् है। अध्ययन-मनन की प्रयोजन-सुविधा के लिए हम एक दृश्य रूपक का सहारा लें, तो यो भी कह सकते हैं कि जड़ाभिमुख विश्व में प्राणशरीरी अस्तित्व के लिए घातक जितने भी क्रिया-सूत्र हैं, उन सभी के प्रतिक्रिया सूत्रों की समष्टि ही हमारा मनस् है। चूंकि जडत्वपोषी विश्व का समुच्चय व्यापार ही चिन्मयता का विरोधी है, अत मनस् समग्र विश्व के प्रतिक्रियात्मक सस्कार का सकलित स्वरूप है। मनस् जडत्वपोषी विश्व की समग्रता का सचेतन प्रतिबिम्ब है। जडत्वगामी विश्व जितनी शक्तियों का क्रियात्मक पुञ्ज है, मनस् उन सभी शक्तियों का प्रतिक्रियात्मक आयोजन है।

ऋषियों की साधना में जीवन की सीधी पकड थी। आज मनस् ने पुन अपना अध्ययन प्रारम्भ किया है। हमारा यन्त्र-लोक मनस् का प्रत्यक्ष प्रयास-बिम्ब है। इस बिन्दु पर कला और साहित्य की चर्चा एक बार छोड दी जाय। कला और साहित्य में समग्र जीवन बिम्बित होता है, मनस् मात्र नही। हाँ, इतना तो यहाँ स्पष्ट हो ही जा रहा है कि कला और साहित्य में मनस् के अतिरिक्त भी कुछ बिम्बित है। जीवन बिम्बित है, और जीवन मनस् के अतिरिक्त भी कुछ तत्वो से आयोजित है।

यन्त्र

विश्व और मनस् में क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है। शरीर-प्राणमय जीवन के अस्तित्व में मनस् सहायक है, और शरीर-प्राण को सगठित करके ही वह जडता के विरुद्ध जीवन के सघर्ष में नद्ध है। मनस्-जीवियों का तो बहुल सघर्ष-व्यापार ही मनस् से नियन्त्रित है।

ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ ही मनस् अब ऊक नए लोक की सृष्टि करता जा रहा है। यह यन्त्र-लोक का विकास है। ज्ञान-विज्ञान तथा अनुसधान के व्यापक परिचय-क्षेत्र की जडाभिमुख क्रियाओं को वह बारीकी से पहचानता है। उसे जब यह बोध हो जाता है कि कुछ जडाभिमुख क्रियाएँ प्राणशरीरी अस्तित्व के लिए घातक होने के साथ ही- कई जडाभिमुखी क्रियाओं के लिए भी प्रतिरोधी तथा प्रतिक्रियात्मक हैं, उन्हें आपस में ही संघर्ष-बद्ध कर देता है। इससे प्राणशरीरी का अस्तित्व अधिक सुरक्षित हो जाता है। सभ्यता के विकास में जो विर्मितियाँ हमारे समक्ष

आई हैं वे इसी का परिणाम हैं। हमारे इस यन्त्र-युग में जो जड़वादी क्रियाएँ अधिकाधिक संघर्ष-बद्ध दृष्टिगोचर हो रही हैं। इस प्रकार प्राणशरीरी के अस्तित्व की सुरक्षा की व्यापकता के साथ ही मनस् का प्रतिक्रियात्मक संघर्ष भी कम होता जा रहा है। हमारा यन्त्र-लोक व्यापक पैमाने पर वही कार्य कर रहा है, जो मनस् को करना पड़ता है। अभी तो मनस् अधिक व्यस्त है। प्राकृतिक क्रियाओं का अनुकूल नियन्त्रण बड़ी सतर्कता तथा अध्यवसाय का कार्य बन रहा है। किन्तु स्पष्ट ही इन सब चेष्टाओं का लक्ष्य मनस के लिए अवकाश अर्जित करना है।

प्राणशरीरी की अवयवी कोषाओं में अनुकूल विन्यास-व्यवस्था के स्थापित होते ही मनस्-चेतना की गति प्रारम्भ हो जाती है। विश्व-क्रियाओं का प्रतिक्रियात्मक संस्कार तो अब मानव-शरीर की कोषाओं में (या 'पर' या 'मैं+पर') छा चुका है। प्रतीत होता है कि मनस् का संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक प्राणशरीरी अस्तित्व के लिए प्रतिक्रियात्मक संघर्ष आवश्यक होगा। चूंकि मनस् का अस्तित्व प्रतिक्रियात्मक है, अतः स्वाभाविक है कि प्रति-क्रियात्मक संघर्ष की आवश्यकता के धुँधले होने के साथ-साथ मनस् की आवश्यकता भी क्षीण होती जाएगी। इस प्रकार मनस् की प्रयास-दिशा भी मनस् के अस्तित्व की विरोधी दिशा है, अर्थात् मनस् अपने अस्तित्व से अवकाश की ओर प्रेरित है।

चिन्मयन तथा युग-चेतना

मानव में चिन्मयता व्यक्त है, किन्तु इसकी निर्बाध स्थापना की भूमिका अभी शैशवावस्था में है। महर्षि अरविन्द की साधना

चिन्मय के प्रत्यक्ष दर्शन की दिशा में हमारी एक प्रर्जना है। अब तो जड़त्व-विभजन की दिशा में चतुर्मुखी चेष्टाएँ चल रही हैं – तथाकथित रासायनिक क्रियाएँ, प्राणशरीरी अस्तित्व-चेष्टाएँ, मनस् के प्रतिक्रियात्मक संघर्ष तथा जड़ाभिमुख क्रियाओं का विज्ञान प्रेरित पारस्परिक संघर्ष। इन समग्र चेष्टाओं का लक्ष्य जड का समग्र चिन्मयीभवन है।

हमारी व्यक्तिगत तथा सामूहिक चेष्टाओं का बहुलांश तो प्राणशरीरी की सुविधा तथा उसके अतित्व के संघर्ष में लगा हुआ है, स्वल्पांश ज्ञान संधान में निरत है और अत्यल्पांश चिन्मय की साधना में निमग्न है। यह स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। इन चेष्टाओं की सानुपातिकता शनैः शनैः परिवर्तित हो रही है – जड़ता की तीव्रता शिथिल होती जा रही है, ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जा रहा है और चिन्मयन की भूमिका उभरती आ रही है। इन्हीं की सानुपातिकता के आधार पर युग-चेतना का अंकन किया जाना चाहिए – जड़ता कितनी शिथिल हुई, जीवन को कितना आश्वासन मिला तथा चिन्मय की अबाध अभिव्यक्ति के लिए वातावरण किस सीमा तक बना – संक्षेप में इतना ही कि जड़ता का चिन्मयन किस सोपान तक पहुँचा।

अनुसंधानों के आधार पर गणना करके हमने तय किया है कि कुछ लाख वर्षों में ही पृथ्वी इतनी शीतल हो जाएगी कि इस पर प्राणशरीरी अस्तित्व ही सम्भव नहीं होगा। किन्तु इस गणना के समय जीवन की प्रगतिशीलता, मनस् की वर्द्धमान सक्रियता तथा चिन्मय की उदय-चेष्टाओं को स्थिर या तटस्थ मान लिया गया है,

पदार्थ की परास्त होती हुई जड़ता को प्रटल स्वीकार किया गया है। अत इस गणना का सापेक्ष्य धरातल कच्चा तथा सदिग्ध है। एक और भी प्रश्न हमने उठाया है – शीत, ताप तथा दाग्य की जीवन विरोधिनी अतिशयता के बीच, पतों की एक गंदगी व सकुचित पेटी मे ही जीवन क्यो सम्भव है! फिर तो जीवन प्रकृति-प्रवाह का एक आकस्मिक बुद्‌बुदी सयोग है! अनन्त काल-दिशा मे इस नगण्य वृत्त पर चल रही बुद्‌बुदी जीवन-लीला को हम समग्र प्रकृति की साधना दिशा कैसे स्वीकार करलें ?

किन्तु हम तो उसकी चर्चा कर रहे हैं, जो है और हो रहा है। हम नही जानते कि चिन्मयन की एक ही दिशा – प्राणशरीरी सघर्ष के माध्यम से, है। हम तो प्राणशरीरी के माध्यम से चिन्मयन की बात कर रहे हैं। यह भी आवश्यक नही कि प्रकृति चिन्मयन का अधिक मोह करे, उसकी ओर तीव्रता से चले। शायद उसे जल्दी नहीं हो। शायद उसे जड़ता उतनी ही प्रिय हो, जितनी चिन्मयता। शायद अन्तिम परिणति जड़ता ही हो। हम तो जीवन का अध्ययन कर रहे हैं, जो हो रहा है वहीं तक सीमित हैं। प्रकृति के प्रयोजन के लिए हम व्यग्र नही होंगे, विकास की दिशाओं के प्रति हमारा आक्रोश नहीं है। काल-दिशा तो अनन्त है, प्रकृति-व्यापार तो विचारणा के लिए अभेद्य-सा है।

जीवन स्वत प्रवह (Self evolving) है। मनस् जटिल अस्तित्व-सघर्षों की एक देन है तथा प्रतिक्रियात्मक चेष्टाओं का स्रोत है। जब सघर्षों से मुक्ति मिलेगी, मनस् से भी मुक्ति मिल जाएगी। किन्तु यह एक विकास होगा, क्योंकि प्रवह-प्रस्फुटन (Evolution)

में पीछे मुड़ने की क्रिया नहीं होती। मनुष्य की पूँछ यदि किसी संघर्ष-जनित स्थिति में झड़ गई, तो उस स्थिति के समाप्त होने पर पुनः नहीं उग आएगी। नया विकास नई परिस्थिति के अनुकूल होता है।

समाज, व्यक्ति, व्यष्टि और समष्टि

समाज एक अमूर्त (Abstract) सत्ता है और मनस् की देन है। अस्तित्व-संघर्ष ने जीवन की व्यष्टिगत इकाइयों को सामूहिक चेष्टाओं की ओर विकसित, प्रेरित या गतिमान किया। भय ने संवेदना को झंकृत किया, संवेदना ने सामूहिक चेष्टा का वरण किया। संघ ने संरक्षण को, संरक्षण ने कृतज्ञता को, कृतज्ञता ने पौरुष तथा प्रशस्ति-गरिमा को जन्म दिया। इस प्रकार मनस् ने कुछ ऐसे अमूर्त तत्वों के समायोग को जन्म दिया जिसे हम समाज कहते हैं। समाज के उदय का आधार तथा उसके अस्तित्व का लक्ष्य जीवन का अस्तित्व-संरक्षण था और है। सामूहिक चेष्टाओं को ज्यों-ज्यों सफलता मिली, व्यष्टि नियमन तथा अनुशासन का प्रशिक्षण स्वीकार करती गई। सुरक्षा तथा अस्तित्व के लिए व्यष्टि ने अपने को संस्कृत किया और कालान्तर में समाज के सुदीर्घ विकास के उपरान्त व्यष्टि ने समाज के लिए उत्सर्ग के आवेश का वरण किया। सामाजिक भाव-सत्ता से संस्कृत व्यष्टि को ही व्यक्ति कहते हैं। समाज व्यक्ति के भीतर होता है। समाज व्यक्तियों के जोड़ का समीकरण नहीं है, बल्कि वह ऐसी अमूर्त सत्ता है, जो व्यक्तियों में व्याप्त है। जीवन की इकाई व्यष्टि है, समाज की इकाई व्यक्ति। व्यक्ति मनस् के संस्कार के अनुसार परिवर्तनशील है, व्यष्टि मनस्-

नियोजित है ही नहीं।

इस विकास-क्रम में एक और नई सत्ता सर उठाने लगी, जिसे हम 'समष्टि' की संज्ञा देते हैं। समाज ने अस्तित्व की महत्ता के नाम पर व्यष्टि ने अनुभूति-अर्जित सिद्धान्तों के रूप में मान्यताओं, आदर्शों, प्रथाओं और परम्पराओं को संस्कारों के माध्यम से कवच-रूप में अङ्गीकार करना प्रारम्भ किया। इन्हें ही हम समष्टि कहेंगे। समष्टि के विषय में दो बातें जान लें— एक कि यह अनुभूति-अर्जित होने के कारण सार्वकालिक नहीं हो सकती और यह तो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि सार्वदेशीयता इसमें नहीं है, दूसरी कि इसका प्रयोग निश्चित रूप से रक्षात्मक कवच के रूप में प्रारम्भ हुआ।

क्रमशः व्यक्ति की सुरक्षा के साथ सुविधा भी मिली। सुरक्षा और सुविधा के लिए समष्टि को उठाया गया। मान्यताएँ, परम्पराएँ प्रथाएँ और आदर्श उत्तरोत्तर जागते गए, व्यष्टि दबती गई। व्यष्टि के समाज-संस्कृत परिवेश को ही हम व्यक्ति कहते हैं। व्यक्ति-भाव वरित भी हो सकता है, अर्जित भी, वह कभी कवच रहा, कभी आवरण। कवच के आग्रह के नाम पर आवरण के मोह की प्रवाह-वृद्धि हुई है। धीरे-धीरे मानव-प्रवृत्ति के लिए व्यक्ति-संस्कृति सुपाच्य बन गई है।

आदर्श और यथार्थ

व्यष्टि यथार्थ है, समष्टि आदर्श है। आदर्श की उन्नतर अवस्था में व्यष्टि पर अधिक तनाव और अधिक दबाव होता है। समष्टिगत आदर्श व्यष्टि को मूर्च्छित रखना चाहता है। युगों तक मनस् ने व्यष्टि को समष्टिगत आदर्शों की साधना में लगाए रखा।

'आदर्श व्यक्ति' बनने के भुलावे में व्यष्टि को व्यस्तताओं से ढका और दबाया गया। अब ये समष्टि-आदर्श के नारे अपने हल्केपन के कारण तैर गए हैं। व्यष्टि और समष्टि सहस्राब्दियों से संघर्ष-नद्ध हैं। व्यष्टि और व्यक्ति का युद्ध चल रहा है। समष्टि टूटना नहीं चाहती, किन्तु उसे टूटना होगा। व्यक्ति व्यष्टि को बर्बर कहता है, किन्तु वह बर्बर नहीं, यथार्थ है, सत्य है।

व्यस्तता तात्विक जीवन पर गर्द है, बोझ है। इन व्यस्तताओं में व्यष्टि का दम घुट रहा है। बहुत काल तक अनेक कवियों ने इसका अङ्कुरण-विवेचन किया। कुछ विद्रोही स्वरों ने इस गर्द से मानसिक संग्राम किया। परम्पराओं से झुँझलाए गीतकारों ने मान्यताओं पर प्रहार किया। किन्तु ये कार्य बहुधा विवेचनात्मक रहे, इनमें व्यष्टि का, जीवन का स्वर नहीं उतरा। ये छन्द चिन्मय की तरलता से सप्राण नहीं रहे। काव्य व्यष्टि का स्वर होता है। सम्भवतः इसी कारण समालोचकों ने यह आशंका व्यक्त की कि काव्य का युग अस्त हो रहा है। जिसमें व्यष्टि की गूँज नहीं, वह काव्य नहीं हो सकता। मानसिक आयासों से भी काव्य-रूप खड़ा किया जा सकता है, उसके आस्वादन से मानसिक सन्तोष भी प्राप्त हो सकता है। किन्तु उससे आनन्द नहीं मिल सकता। रस और आनन्द का स्रोत व्यष्टि है, यथार्थ जीवन है।

काव्य को कई बार नियमों के डोरों में बाँधा गया। फिर डोरों को ही रंगीन और सुदृढ़ बनाने की वाहवाही चली! फिर डोरे ही रह गए। किन्तु काव्य नियमों में बँधकर नहीं आता। काव्य भाषा का चमत्कार भी नहीं है — भाषा ही काव्य से चमत्कृत हो

उठती है। "पिस्तौल की आवाज" और "असली पिस्तौल की-सी आवाज" का अन्तर रह ही जाता है।

'काव्य-प्रणयन का स्रोत रुद्ध हो जाएगा' कहने का भय है कि जीवन समष्टि-पोषी मूर्च्छना से मुक्त नहीं हो सकेगा। यह व्यष्टि की सत्ता और उसके आलोक-स्वरूप पर अविश्वास होगा। जीवन का सर्वथा दमन नहीं किया जा सकता, व्यष्टि की दयनीय अवस्था स्थायी नहीं है। व्यष्टि रहेगी अर्थात् जीवन रहेगा अर्थात् काव्य रहेगा।

समष्टि-चिन्ता के प्रति हम मोह-ग्रस्त भी हैं। हमने मनस् के रोम-रोम में मान्यताओं के कुछ नपे-तुले साँचे लटका दिए हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से उभरने वाली प्रत्येक घटना को इन्हीं साँचों में ढालने की क्रिया को हमने सत्यान्वेषण मान लिया है। इस अवान्तर बहुरूपिये सत्य ने एक सीमा को ही जीवन घोषित कर दिया है। उपन्यासकार स्टीवेन्सन ने उपन्यास को ही जीवन की सर्वांगता का अध्ययन माना है, अन्य सभी विषयों को एकाङ्ग कहा है। वस्तुतः वे भी बाह्य तन्तुओं की गणना में लग गए हैं। उनकी सर्वांगता या समग्रता लहरों के विस्तृत क्षेत्र को ही सागर कहती है। वे कार्यालय में काम करने वाले व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्णता का निर्णय दीवार से लटके कार्यक्रम-वृत्त से करते हैं। वे लहरों के नीचे के भाग को समुद्र का अंग मानना आवश्यक नहीं समझते। स्टीवेंसन महोदय के सामने जो उपन्यास थे, वे क्रिया-कलापों में लिपटे मानव-मनस् तथा मानव-हृदय के उच्छ्वासों से आविष्ट चित्र थे। वास्तव में जीवन एकांग नहीं होता, सत्य तन्तुओं और अवयवों का योग नहीं होता।

सत्य मानव-वाणी के माध्यम से फूटता है तो काव्य का रूप ग्रहण करता है। उसे पद्यात्मकता और गद्यात्मकता का मोह नहीं। व्यष्टि-दृष्टि से विहीन पद्य-राशि को जितनी तत्परता से काव्य नहीं माना जाता, उतनी ही तत्परता से व्यष्टि-विभा से सप्राण गद्य को काव्य माना जाता है।

शिवम् तत्व अर्थात् उपयोगवाद

समष्टिगामी उपयोगवाद तथा जीवन के ज्योति-स्वरूप के बीच कोई समझौता सम्भव ही नहीं है। समष्टि के विकास की कड़ी व्यष्टि की मूर्च्छना से सीधी जुड़ी है। हमारी विचार-प्रक्रिया उपयोग-लिप्सा से वेष्टित है। हमारी तर्क-समष्टि, हमारी मान्यताएँ और हमारे आदर्श उपयोगिता से तोलकर स्थापित हैं। समष्टि के संस्कार विचार-लोक पर इस प्रकार छा गए हैं कि हमारा सोचना निर्धारित बिम्बों के सहारे ही सम्भव हो पाता है –

द्वार-द्वार पर खिंची पा रहे
यह जादू की रेखा।

वही टकसाली तर्क, वही अलंकृत दर्शन, वही पद-चिन्हों की भरमार जीवन की मुक्ति और विकास के नाम पर व्यष्टि को डुबाते जा रहे हैं, समष्टि को उठाते जा रहे हैं, मौलिक सत्ता को रौंदते जा रहे हैं। जिन्हें साधन रूप में लिया गया, वे ही साध्य बन गए हैं। जीवन में व्यस्तताएँ और संघर्ष हैं, कुछ नारे हैं– 'समष्टि के लिए', 'मान्यताओं के लिए', 'समाज के लिए', 'आदर्शों के लिए', अधिक अनुशासन, अधिक कर्त्तव्य, अधिक नैतिकता, कानूनी दृढ़ता के

ढिंढोरे पिट रहे हैं। शैशवावस्था में ही मनस् पर पहरे बिठा दिए जाते हैं। शिक्षण-प्रशिक्षण, धर्म-दर्शन, देश भक्ति, देश-सेवा, महापौरुष आदि डरावने कलाप (जिनका रूप लुभावना है) व्यष्टि पर टूट पड़ते हैं, मुक्ति के अवकाश को लूटना प्रारम्भ कर देते हैं। बड़े हाहाकार, बड़े कोलाहल, बड़े व्यस्त समारोह के साथ व्यष्टि को जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा दिया जाता है। उपयोगवादी कठघरों में कुछ आदर्श पदाधिकारी, कुछ आदर्श सेनापति, कुछ आदर्श समष्टि-पोषी मढ़कर रख दिए गए हैं – अपने ही जैसे कुछ अभागे अपनी व्यष्टि-विभा से अन्धे होकर, जीवन से वंचित होकर प्रशस्ति के फ्रेम में झूलते दिखाई दे रहे हैं, और हम इसी घेराव, शाबासी, सामाजिक बनने के शौक, आदर्श बनने के मोह में जीवन के बाढ़ कूदते नाक की सीध में दिनों को मापते जा रहे हैं। कृत्रिमता, तनाव और व्यस्तता – बस यही जीवन-ज्योति बन रहे हैं।

सहस्राब्दियों पूर्व व्यष्टि ने परिस्थिति-वश समष्टिगत उपयोगवाद को महत्व दिया, अपने को व्यक्ति रूप में सँवारना स्वीकार किया और उपयोगी बनने के पुरस्कार-स्वरूप साधना, प्रशस्ति तथा दैहिक सुविधाओं का वरण किया। व्यष्टि ने व्यक्ति का वस्त्र इसलिए स्वीकार किया होगा कि संघर्षों से विजयी निकलने के बाद वह मुक्त विकास तथा अवकाश का अवसर प्राप्त करेगी। किन्तु समष्टि की नकली बाँहों तथा सिरों ने, जिन्हें अंगीकार करके उसने एक बार रावण का अभिनय किया, अब उसके पौरुष को ही पी गए। नकली के बहुमत ने असली की हरकत को ही दबोच लिया। समष्टि का प्रहरी ही व्यष्टि का अहेरी बन गया। व्यष्टि का भाव दब गया व्यक्ति का अभिनय ही रह गया।

और यह अभिनय-रागी व्यक्ति ! आज वह सामाजिक उपयोगिता को ही जीवन की सार्थकता मानने लगा है। वह रोटी के लिए प्रतियोगी बनता है, बेकारी का अभिशाप ढोता है, राज्य-भक्ति राष्ट्र-भक्ति और जाति-प्रेम का नशा लेकर अन्य राष्ट्रो के प्राणियों पर बम बरसाकर सन्तुष्ट होता है। मान्यताओं के अड्डों पर विध्वसक अस्त्र-शस्त्रो का अम्बार लग गया है। जीवन की सत्ता ही दाँव पर दिखाई दे रही है। सवेदना के तन्तुओ को मरोड़ दिया गया है। कुछ सामान्य मान्यताएँ निरूपित कर ली गई हैं, कुछ साँचे-बद्ध प्रश्न बटोर लिए गए हैं और कुछ टकसाली तर्क ढाल लिए गए हैं – बस जीवन का सही स्वरूप यही रह गया है। उपादेयता 'पुण्य' के नाम पर व्यष्टि को तान रही है, अनुपादेयता 'अयोग्यता' या 'पाप' बनकर उसे मरोड रही है। पाप-पुण्य, बुरा-भला, नैतिक-अनैतिक, व्यभिचार-सदाचार, उच्च-नीच की मान्यताएँ चर्बी की तरह जीवन पर लद गई हैं। देव, धरती, समुदाय और तरीके बँट गए हैं। मौलिकता को तिलाञ्जलि देकर, नैसर्गिकता का गला घोटकर व्यष्टि को मूर्छित करके समाज के लिए, समष्टि के लिए उपयोगी दास बनकर हम 'महापुरुष' कहे जाते हैं।

तो क्या हम सम्पूर्ण विकास विसर्जित करके बर्बरता की ओर चलें ? यदि विकास इसी को कहा जाएगा, तब तो बर्बरता ही स्पृहणीय होगी, क्योंकि उस बर्बरता में व्यष्टि का सौन्दर्य तो होगा ! फिर भी एक बात प्राकृतिक लगती है कि व्यष्टि के जागने का समय आ गया है, जीवन के सँभलने की उपयुक्त घड़ी आ गई है, तर्कों से दबे भाव की विजय-भेरी बजने की वेला प्रवेश-द्वार पर है।

हमारे इतिहास ने कुछ आलोक-वृत्त भी सग्रहीत कर

लिए हैं। सौभाग्यवश कहें या भूल से, आलोक-भजना में अधिकारी भी महापुरुषों की पंक्ति में रखे गए हैं। सुकरात, बुद्ध और अरविन्द आदि जीवन की समग्र ज्योति का दर्शन कर चुके थे। ये मौलिकता के प्रबल समर्थक थे। ये व्यष्टि सत्ता पर आचारों की कलई चढ़ाने के विरोधी थे, व्यष्टि के मुक्त प्रस्फुटन के समर्थक थे। सामाजिक उपयोगवाद महापुरुषों की अधिकाधिक प्रतिमूर्तियाँ माँगता है, किन्तु बुद्ध और सुकरात ने प्रतिगठन के लिए मौलिकता के हनन् का तीव्र विरोध किया। समाज तो अधिकाधिक सुकरात, बुद्ध और गाँधी माँगता है। वह तो प्रतिगठन का पोषक है।

समाज के लिए गाँधी अधिक उपयोगी हैं, बुद्ध कम, जबकि जीवन के लिए बुद्ध अधिक सायक हैं, गाँधी कम। बुद्ध का विकास तात्विक जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों, प्रभावों तथा प्रतिक्रियाओं से हुआ था और गाँधी का विकास समाज की दुरवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। बुद्ध जीवन के साथ थे, गाँधी समाज के साथ। बुद्ध से गर्द झड़ चुकी थी, गाँधी ने गर्द का ही सस्कार, परिष्कार या शृंगार किया। बुद्ध का जाति-विभाजन-विरोध जीवन की दृष्टि से प्राञ्जल तथा गाँधी का जाति-विभाजन-विरोध समाज की दृष्टि से उपयोगी रहा। इसी सदर्भ में बुद्ध की अहिंसा गाँधी की अहिंसा से अधिक व्यापक और गहन है। सुकरात ने टकसाली तर्क-व्यवसाय से मुक्त व्यष्टि का आग्रह किया और बुद्ध ने लादी के रूप में बँधे दर्शनों, परम्पराओं तथा मान्यताओं को उतार फेंकने का नारा लगाया।

फिर, हमारा 'शिवम्' क्या है? वह किसे अपनाए—अनुकूलता को, उपयोगिता को अथवा आत्म साक्षात्कार को? मनस् अनुकूलता का आग्रही है, क्योंकि इससे उसका तनाव शिथिल पड़ता

फिर, हमारा 'शिवम्' क्या है ? वह किसे अपनाए—अनुकूलता को, उपयोगिता को अथवा आत्म-साक्षात्कार को ? मनस् अनुकूलता का आग्रही है, क्योंकि इससे उसका तनाव शिथिल पड़ता है, थोड़ा अवकाश उपलब्ध होता है। समाज उपयोगिता का आग्रही है ही। जीवन आत्म-साक्षात्कार को, अबाध प्रस्फुटन को प्राथमिकता देगा। मनोरंजन जड़ता के विरुद्ध अभियान में एक विराम है, उपयोगिता का आग्रह 'सेवा' का नारा दे रहा है, जिसके अनुसार व्यष्टि को मात्र व्यक्ति में परिसीमित होकर साधन बनना है। आत्म-साक्षात्कार सम्पूर्णता है। युग-चेतना का विवेचन हमने कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिवम् का निरूपण एकांग न होकर युग-चेतना की सानुपातिकता के आधार पर किया जाय तो सर्वोत्तम रहेगा। साहित्य के मूल्यांकन में भी यह सानुपातिकता का दृष्टिकोण अपरिहार्य है।

हमारा शिवम् भी बहुधा सामाजिकता से निरूपित तथा आरोपित रहा है। आज तो सामाजिकता, जिसका आधार व्यक्ति है, इस स्थिति तक पहुँच गई है कि व्यक्ति योग्यता-अयोग्यता में ही अपनी सीमा स्वीकार करने के उपरान्त भी रोमाञ्चकारी पाशविकता का शिकार बना हुआ है। इसका दृष्टान्त एक भारतीय युवक के पत्र का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत करके उद्धृत किया जा रहा है। 'अफसोस' कह देना उतना ही साथक है, जितना 'सन्तोष', कि सम्बन्धित युवक आत्महत्या के द्वारा इस जीवन-सागर को पार कर गया। पत्र का सार आगे अंकित है और जीवन के एक ज्वलंत प्रश्न के रूप में उद्धृत है, व्याकरण या भाषा सम्बन्धी भूलों की छानबीन करने के लिए नहीं—

आदरणीय प्रधान मन्त्री, भारतवर्ष,

१ आपके नायकत्व में चलने वाली सरकार द्वारा की जाने वाली जन-गणना यदि कुछ अर्थ रखती है, तो हमारी सरकार को ज्ञात होगा कि मैं दिनांक ---- को ---- स्थान पर पैदा हुआ।

२ सरकार द्वारा समर्थित-सचालित और समाज द्वारा अभिनन्दित-सम्पादित शिक्षा-पद्धति के अनुकूल पन्द्रह वर्ष तक अनवरत परिश्रम करके मैंने ---- विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा सन . मे उत्तीर्ण की।

३ मेरे पास जीविका का कोई साधन नहीं, जिससे मैं अपना जीवन गुजारा कर सकूँ। सभी साधनों पर तो मेरे या मेरे पितामहों के जन्म के पूर्व से ही कब्जा किया जा चुका है और हमारा यह सविधान जिस पर हम इतना गर्व करते हैं, आपकी नीति जिसकी पूजा हमें करनी ही चाहिए (क्योंकि हमने यही पढ़ा और यही सीखा है) और आपकी सरकार ! भला वह कैसे गलत कह दी जाय (क्योंकि उसकी दुनाली हमारे सीने पर जो है) — सभी शान्ति के पुजारी होने के नाते अपनी सारी चेष्टाएँ उसी कब्जे की रक्षा में लगा रहे हैं। काम देने वाले कार्यालयों पर माथा टेककर थक गया, किन्तु अब तक कोई सहारा नहीं मिला। जीवन-गुजारे के लिए रोटी का मिलना भी असम्भव दिखाई दे रहा है।

४ मेरा शरीर क्रमश क्षीण और रुग्ण होता जा रहा है। आपकी सुव्यवस्था की यातना झेलते झेलते मन निराशा और अन्धकार से भर गया है। मैं और कोई तरीका अपनाना नहीं चाहता, क्योंकि इससे उस शान्ति के टूट जाने का भय है, जिसे आप लोगों ने

इतने हाहाकार से घेर रखा है और दूसरी बात कि मैं अपने प्राचीन ऋषियों की महानता को आघात नहीं पहुँचाऊँगा।

५ अब मेरे सामने आत्म-हत्या कर लेने के सिवा और कोई मार्ग नहीं है। चूँकि व्यवस्था के उत्तरदायी और ठेकेदार आप हैं, अत, मैं आत्म-हत्या की स्वीकृति आपसे लेने का अभिलाषी हूँ। दिनाक ......—— तक आपके पत्र की प्रतीक्षा करूँगा।

विनीत-

.. ——......... .. ...

पता नहीं इस पत्र की प्रति भेजी गई, उसका उत्तर आया, या नहीं आया। युवक तो है नहीं। इस पत्र के सन्दर्भ में विवेचना बाँधना ठीक नहीं। समाज के चरणों में लुण्ठित 'व्यक्ति' का यह हनन्! सरकारें अपने लेखाधिकारियो से आँकड़े बनवा लें कि वे कितने व्यक्तियों को किस-किस ढग से मार डालती हैं। एक बात और – ये वे आतंकित व्यक्ति हैं, जो समाज और सरकार की व्यवस्था के सर्वथा अनुकूल हैं। प्रतीत होता है कि यह पत्र लिखने वाला यदि सामाजिक दृष्टि से या सरकारी नैतिकता की दृष्टि से 'अपराधी' होता तो कभी भी उसे आत्म-हत्या नहीं करनी पडती। हमारे भारत की तो यही दशा है कि 'मक्खन-मक्खन' नही बल्कि 'घास-फूस' ऊपर तैरने लगा है, अशुद्धिया ऊपरी सतह पर आ गई हैं।

उदधृत तथा इस प्रकार की समस्त विडम्बनाएँ उपयोग-वादी दृष्टिकोण की दुष्परिणतियाँ हैं। 'शिवम्' अवश्य ही उपयोगवाद से मुक्त है। साहित्य-समीक्षकों को जीवन के साथ, 'शिवम्' के साथ रहना चाहिए, उपयोगवाद की मृग-मरीचिका से सावधान रहकर उन्हें कृतियों का मूल्याकलन करना चाहिए।

नेत्रों के खुले रहने पर हमारे चक्षु-पटल पर सामने का रूप-लोक प्रतिबिम्बित हो जाता है। इस प्रतिबिम्ब-सृजन का विज्ञान तो बहुत विकसित हो चुका है, हमें केवल उतनी ही विषय-सामग्री लेनी है, जितने से हमारे 'भाव-लोक' की पृष्ठभूमि बन सके। ध्यान तथा मनस् की एकाग्रता की स्थिति में हमारी देखने की क्रिया ५० से० मी० की दूरी से केवल १ वर्ग मिली मीटर के क्षेत्र पर होती है। इस निबन्ध के पाठक इसमें मुद्रित किसी भी एक अक्षर को एक बार में पूरा-पूरा नहीं देख सकते। '०' और व को देखकर वे प्रयोग द्वारा अपने विचार को स्कन्ध दे सकते हैं। हम जब किसी दीर्घ आकार की वस्तु को देखते हैं तो एक तो १ मिली मीटर का यह ध्यान से अनुशासित दृश्य-केन्द्र सामने होता है और वह दृश्य केन्द्र पार्श्व दृश्यों की झलक से वलयित होता है। एक पूरी वस्तु को देखने के लिए हमें उसके विस्तार पर विभिन्न दृश्य-केन्द्र स्थापित करने पड़ते हैं और इस प्रकार इन दृश्य-केन्द्रों के यौगिक के रूप में हम पूरी वस्तु की एक रूप-समष्टि बनाते हैं। हमारे मनस् का परिगणन-विधान बहुत त्वरित है। हमें यह प्रतीत नहीं होता कि हमें इतने दृश्य-अवयवों का योग करना पड़ता है। अत्यन्त सूक्ष्म समय में ही वह इन समग्र इकाइयों को संगठित व समन्वित करके वस्तु के आकार-विस्तार के प्रति मान्यता स्थापित कर लेता है।

यह उदाहरण चक्षु-सम्बन्धी है। इसी प्रकार के ज्ञानबिम्ब हम अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बनाते हैं। इस प्रकार के बिम्बों का एक सञ्चित सागर-सा हमारे मनोमय कोषों में विद्यमान रहता है। सागर की उपमा का चुनाव इस सुविधा के लिए किया गया कि उसकी सतह पर उसी जल से निर्मित लहरों का एक संसार सदैव लहराता रहता है, जिस जल से उस समुद्र का अस्तित्व है।

इस विम्ब-सागर को हम 'विचार' (*Thought*) कहते हैं। यह हमारे मनस् के उदय-काल से लेकर अब तक के अर्जित बिम्बों का असीम भण्डार है।

जब कोई विषय हमारे समक्ष अथवा हमारे स्मृति-पटल पर उपस्थित होता है, तो हमारे विचार लोक में एक गति आ जाती है, जिसके फल-स्वरूप उसके सजातीय, सम्बन्धित, प्रतिक्रियात्मक तथा विरोधी बिम्बों की एक श्रृंखला-सी खड़ी हो जाती है। इस प्रकार की गतिशीलता को हम सोचना (*Thinking*) कहते हैं। इसे हम विचार-प्रक्रिया कहें। यह स्पष्ट है कि हम विचार-प्रक्रिया में स्वाधीन नहीं हैं। इसकी श्रृंखला का तरगण तो हमारे समक्ष उपस्थित वस्तु, स्मृति या बिम्ब पर आश्रित है। हमारा इन्द्रियानुभूत ज्ञान भी इस प्रक्रिया में उपस्थित बिम्बों के साथ अपनी रागात्मक लय जोड़ता जाता है। इस नवीन प्रक्रिया को हम भावना या अनुभूति (*Feeling*) कहते हैं। जिस व्यक्ति के मनस में ये बिम्ब अधिक स्पष्ट तथा गतिशील होते हैं, उसकी धारणा-शक्ति (*Understanding*) अच्छी होती है।

कल्पना हमारे मनस् का वह क्रिया विधान है, जो विचार-लोक में एकत्रित बिम्ब-प्रतिबिम्बों को मनोदशा के अनुसार तथा समन्वित स्वरूप देकर विचार-प्रक्रिया, भावना तथा धारणा के समक्ष एक नए रूप-लोक की सृष्टि करता है। कल्पना मनस् के जीवन का एक अनिवार्य लक्षण है। कई व्यक्तियों की कल्पना के साथ उनकी संवेदना का सरल तादात्म्य होता है। इस प्रकार के प्राणी भावुक कहे जाते हैं। संवेदना की संवेगावस्था में जिनका कल्पना-लोक भाव-विभोरता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वे कवि हैं। व्यावहारिक व्यक्तियों की भावना अर्जित विवेक का अनुशासन मानती है और भावुक व्यक्तियों की भावना विवेक-दृष्टि को भी बार-बार मोह लिया करती है। भावुक व्यक्ति तन्मयता और आत्म-विभोरता की स्थिति में शीघ्र आ जाते हैं और यही लोक उनके अस्तित्व का दिशासूचक बन जाता है। उनका कल्पना-लोक समग्र जीवन-विभा से अनुप्राणित

व आलोकित हो उठा करता है। ऐसे व्यक्ति ही कवि हैं।

चिन्मयत

मानव में प्राणशरीरी अस्तित्व से आगे, मनस लोक से भी आगे— 'चिन्मय' स्पष्ट रूप में व्यक्त है। प्राचीन भारतीय मनीषियों की तद्विषयक उपलब्धियों की शृंखला में महर्षि अरविन्द की सिद्धियाँ संयुक्त कर देने पर हम इस विषय में निश्चयात्मक स्वीकृति देने की स्थिति में आ जाते हैं। जीवन-प्रवाह की लय चिन्मयाभिमुख है। इस दृष्टि से भी मानव सर्वाधिक विकसित प्राणी है। युग-चेतना में चिन्मयाभिव्यक्ति के स्पष्ट आनुपातिक विकास को ही अरविन्द-दर्शन के अध्येता अतिमानव का उन्नयन कहते हैं। प्राचीन साहित्य की क्रम-शृंखला विच्छिन्न हो जाने तथा घटनात्मक ऊहापोह में साधना की गुरु-शिष्य परम्परा बिखर जाने के कारण चिन्मय की जो स्थिति तार्किक मनस के लिए अविश्वस्त तथा काल्पनिक प्रतीत होती थी, अरविन्द ने उसकी सम्भावनाओं का द्वार खोल दिया है।

प्राणशरीरी जीवन सुख-दुख का भोक्ता है और जड़ता के विरुद्ध जीवन का सीधा संघर्ष इसी से है। प्राणशरीरी में मनस् का विकास लाभ-अलाभ के भोक्ता और कर्ता को भी प्रस्तुत करता है। अस्तित्व-संघर्ष में प्राणशरीरी के समायोजन का दायित्व इसी स्तर पर प्रत्यक्ष होता है। चिन्मयता के स्तर पर पुनः भोग्य और भोक्ता, कर्त्तव्य और कर्त्ता की स्थितियों का लोप हो जाता है। किन्तु एकमयता की यह स्थिति जड़ता नहीं है। कर्त्ता और कारण की भेद-रेखाओं के लोप होने के साथ ही चिन्मयालोकित, सापेक्ष्य पीड़ा से मुक्त आनन्द-लोक आ जाता है।

हमने जिसे व्यष्टि कहा, वह प्रवाहमय जीवन की इकाई है, जिसमें शरीर, प्राण, मनस् और चिन्मयता सभी सन्निहित हैं। यह संघर्ष-मुक्ति के लिए संघर्ष-रत इकाई है। यह सापेक्ष, और निरपेक्ष, साकार और निराकार का एक मधुर समीकरण है।

अनुभूति, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण

अनुभूति ज्ञान का स्तर है, अभिव्यक्ति क्रिया का। दोनों के समायोजक तथा परिचालक के रूप में इच्छा है। अनुभूति के चार स्तर हैं—ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मनस् द्वारा प्राप्त अनुभूति, शरीर के आन्तरिक भागों में मनस द्वारा प्राप्त अनुभूति, बिम्बों के सहारे कल्पना-लोक की सृष्टि करके मनस द्वारा प्राप्त अनुभूति और निरपेक्षता की विशिष्ट अनुभूति जहाँ मनस शिथिल और ज्ञानेन्द्रियाँ प्रशान्त-सी रहती हैं, जहाँ अनुभूति अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण की उद्विग्नता से मुक्त-सी प्रतीत होती है। प्रथम दो स्तरों पर अनुभूति का प्रवाह अन्तर्मुखी प्रतीत होता है, तीसरे स्तर पर मनस के अनुभूति-पक्ष के साथ ही उसका सर्जक स्वरूप भी व्यक्त होता है और चतुर्थ स्तर पर मनस भी शिथिल प्रतीत होता है। यह चतुर्थ स्तर शून्य अथवा सुषुप्ति नहीं है, बल्कि सतही चंचलता की प्रशान्ति में यह चिन्मयानुभूति है, जो विभोरता-सी प्रतीत होती है।

अभिव्यक्ति के तीन प्रत्यक्ष स्तर हैं—मनस् के अनुशासन में कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रियात्मक अभिव्यक्ति, अर्थपूर्ण वाणी या भाषा के माध्यम से मनस्-लोक का परावर्तन और तीसरा स्तर सम्प्रेषण जिसका मूल स्वर संकेतात्मकता है। तीसरे स्तर पर कल्पना लोक भी सजग रहता है। अभिव्यक्ति के प्रथम स्तर पर वर्तमान की बलवती अभिलाषा की तुष्टि का आग्रह प्रधान रहता है, दूसरे स्तर पर विश्व के अभिलषित नियोजन की चेष्टा प्रधान रहती है और तीसरे स्तर पर अनुभूतियों के समग्र संस्कारों का प्रभाव रहता है अर्थात् हमारी जीवनभर की अनुभूतियों के संस्कारों का प्रभाव होता है।

काव्य और कला

अनुभूतियों को वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की चेष्टाएँ

गुण और नाम के बीच के अन्तराल की व्यापकता का निर्देश करती हैं। गुण अनुभूति स्तर पर है नाम भाषा के स्तर पर। फल की मधुरता 'मधुर' में व्यक्त नहीं, केवल संवेद्य है। अपनी सामान्य अनुभूतियों के आधार पर उपमाओं तथा रूपकों के सहारे हम परस्पर संवेदनशील बनते हैं। नाम या शब्द और इनकी अर्थ सम्पदा अकिंचन सी है। गुण और नाम तथा अनुभूति और संवेद्य के बीच का व्यापक अन्तराल सम्प्रेषण से आपूरित होता है और इस स्तर पर भाषा संकेत मात्र बन जाती है। अन्तराल की व्यापकता में ही सम्प्रेषण की महत्ता निहित है। अन्तराल का गहन शून्य सम्प्रेषण के स्पन्दनों से थिरककर सप्राण हो उठता है। सम्प्रेषण ने ही समाज को जन्म दिया है और यही हमारे विकास का आधार है। सम्प्रेषण की अनाहत अभिव्यक्ति हमारे जीवन की निधि है और इसीलिए काव्य और कला हमारे जीवन के संगी सहचर बन गए हैं। हमारी वह अभिव्यक्ति, जो सम्प्रेषण से अनुप्राणित स्पन्दित है, कला है अथवा काव्य है। जहाँ कहीं भी सम्प्रेषण सक्षम और सजीव है, कला का वातावरण है।

कलाओं के मूल्यांकन तथा वर्गीकरण के समय बहुधा अभिव्यक्ति के साधनों की सूक्ष्मता स्थूलता पर ध्यान दिया गया है। हमें साधनों पर नहीं, अभिव्यक्ति के माध्यमों पर विचार करना चाहिए था। कलात्मक सर्जना को सम्प्रेषण के घनत्व से अनुप्राणित करते समय हमारी कर्मेन्द्रियाँ माध्यम बनती हैं। सम्प्रेषणीयता कितनी भी सप्राण हो, उसे कर्मेन्द्रियों की अत्यल्प क्षमता के रन्ध्रों से छनकर रिस-रिसकर प्रगट होना पड़ता है। भाव की अभिव्यक्ति में ये सीमाएँ अवरोध बन जाती हैं। भावों को इन सीमाओं की पर्तों से जितना जूझना पड़ता है, कृति का सम्प्रेषण उतना ही कम होता जाता है। माध्यमों का अवरोध जितना ही कम होता है, कृति उतनी ही सप्राण होती है। सम्प्रेषण को जीवित रखना इस आधार पर आकर साधना का विषय बन जाता है। इस साधना में अधिक सम्प्रेषणीयता के लिए शब्द में, अर्थ में, पाषाण-यष्टि में अथवा रंग-रेखा में संवेग

प्रज्ज्वलित करना पड़ता है। संवेग संवेलित होता है। शब्द में, रंग रेखा में अथवा पाषाण में अर्थ नहीं बल्कि संकेत उभरते हैं। संवेग से सप्राण शब्द 'अर्थ' का छिलका तोड़कर अंकुरित होता है, उपमाओं-रूपकों की पर्ते बिखेरकर विकसित होता है। उसके रोम-रोम पर संकेत-संवेदना लहराने लगती है। वह संवेदना जो मुक्त है, जो जीवन है जो सबकी है। कला के चरमोत्कर्ष की स्थिति में पाषाण पर पड़ी छैनी अथवा चित्र-फलक पर उभरतीं रंग-रेखाएँ नाम की परिधि को पारकर संकेत-संवेग बन जाती हैं। काव्य तो इस संकेत संवेग का विश्व ही है। काव्य अधिक निबन्ध, अधिक वेगवान इसलिए है कि कर्मेन्द्रियों के संकुचित सीमा-वलय का अवरोध इसे कम सताता है।

कला के क्षेत्र में 'संयोग' एक अनोखी विडम्बना है। कुशल कर्मेन्द्रिय और विराट संवेग-सम्प्रेषण का मेल एक आकस्मिक संयोग है। कहीं भाव-वैभव अकुशल कर्मेन्द्रियों की अर्गला में लूला-सा पड़ा है, कहीं कुशल रेखाएँ आन्तरिक संवेग की दरिद्रता वश फिसली पड़ी हैं। काव्य को संयोग-पीड़ा की यातनाएँ कम झेलनी पड़ती हैं। यह तो निर्विवाद है कि काव्य के तात्विक निरूपण के पूर्व सीमित अर्थों तथा उपमाओं-अलंकारों की लकुटियों के सहारे चलने वाले बूढ़े छन्दों की एक पल्टन को ही अजायबघर का मार्ग दिखाकर निराश करना पड़ेगा। उसी प्रकार कला से परिचित होने के लिए मान लेना होगा कि कलाकार एक भावुक प्राणी होता है और कारखाने में भावुकता नहीं होती, कैमरा संवेदनशील नहीं होता। सौन्दर्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है और इस प्रतिबिम्ब से वंचित रंग-रेखाओं में सौन्दर्य नहीं हो सकता। कला जीवन का प्रतिबिम्ब है।

कला और काव्य के बीच एक और अन्तर ठहराव-प्रवाह का है। भाव की संवेगावस्था में कलाकार के मन फलक पर अनुकूल एवं सप्राण बिम्बों का एक कल्पना-चित्र निरूपित होता है। इसमें संवेग अधिक होता है, सप्राणता कम। सृजन उसी कल्पना-चित्र का

मूर्त रूप होता है। निरूपण एक ठहराव है, अतः कलाकृति उस ठहराव की सम्प्रेषणमयी अनुकृति अर्थात प्रतिबिम्ब है। कला में जीवन-प्रवाह की एक स्थिति, एक विराम बिम्बित होता है। यदि कलाकार इस ठहराव के प्रति सचेष्ट और सतर्क नहीं रहेगा तो उसके सृजन का साम्य नष्ट हो जाएगा, प्रतिबिम्बन विचलित हो जाएगा। प्रवाह कई स्थितियों की शृंखला अथवा योग नहीं है। काव्य के साथ ऐसी बात नहीं। वह जीवन-प्रवाह का सम्प्रेषणमय प्रतिबिम्ब है। काव्य अधिक मुक्त, अधिक संवेदनशील, अधिक संवेगग्राही और अधिक संकेतात्मक है, अतः अधिक विराट है। कैमरा वस्तु-चित्र देता है, अतः उस पर उभरी सम्प्रेषणीयता को अंकित कर सकता है। सम्प्रेषण की व्याप्ति उससे अंकित नहीं हो सकती। कला में भाव-शिल्प है, वह समग्र अन्तर्बाह्य का अंकन है किन्तु कोशल की ससीमता तथा अन्ततः चित्र के ठहरावपन उससे समग्र सम्प्रेषणीयता प्रतिबिम्बित नहीं हो पाती। काव्य में संकेतात्मकता चरम बिन्दु तक व्याप्त रहती है, अतः वह जीवन-प्रवाह को अंकित कर लेता है।

दर्शन का आधार चिन्तन है जो न तो जीवन का अविरल प्रवाह होता है और न सुबोध ठहराव। उसमें मेढक-उछाल होती है। दर्शन जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है, काव्य चिन्मय का स्वर है। अनेक दर्शन, अनेक अध्ययन, अनेक दृष्टिकोण मिलकर भी जीवन की समग्रता को व्यक्त नहीं कर सकते। अनेक कोणों का योग ३६०° हो सकता है, किन्तु ३६०° के कोण के लिए एक केन्द्रीयता अपरिहार्य है। दर्शन किसी विराट अनुभूति को जीवन की अन्यान्य सामान्य अनुभूतियों की कसौटी पर कसता है, काव्य जीवन-प्रवाह का प्रतिबिम्ब है, अतः उसे तर्क-पोषण से कोई सरोकार नहीं। जहाँ कहीं भी जीवन का अविरल, अखण्ड प्रवाह है, वहाँ काव्य है। इसके लिए काव्य के पृष्ठपोषकों को न तो छन्दों के कोष की रक्षा के दायित्व से व्याकुल होना है और न ही बुद्ध आदि सबको दार्शनिकों की कोटि में डालकर विचार करना है। बुद्ध में जीवन का उन्मुक्त प्रवाह है, अतः बुद्ध कवि हैं। हाँ, यह अवश्य है कि दर्शन को भी कवियों ने अपने

काव्य-सृजन में स्थान दिया है, क्योंकि जीवन तो समग्रता है, सम्पूर्णता है, समुच्चय है।

*　　　　*　　　　*

भाव हमारी सहजात विभा

मानव की व्यष्टि-निहित इकाइयों में परस्पर एक विराट साम्य है और एक अद्भुत वैषम्य भी। हमारी चेतना का सम, विषम की अपेक्षा बहुत व्यापक, बहुत गहन है। विषमता सतह पर है, साम्य व्यापक मूल है। पद्धति में साम्य और रूप में विभेद है। तात्पर्य कि साम्य वृत्त-रूप है, वैषम्य परिधि-रूप। यदि गूढ़ साम्य को वैषम्य का उत्स नहीं माना जाय तो भी वैषम्य पर उसका प्रभाव इतना व्यापक है कि विभेदपोषी इकाइयाँ भी सजातीय ठहरती हैं।

अनुभूति, सम्प्रेषण तथा अभिव्यक्ति के प्रवाह स्रोत हमारी ज्ञानग्राही इन्द्रियों को, प्रतीति समाहारी मनस् को, विचारकोश को तथा कल्पना-लोक को विचुम्बित करते हुए चलते हैं। दिशा-बोध में भेद प्रतीत होने के कारण हम इन्हें पृथक् समझते हैं। वस्तुत हमारी चैतन्य-तरलता एक ही समग्रता, एक ही समुच्चय है। हमारी चैतन्य तरलता का क्रियाकाश काल-दिशा की प्रतीतियों से भी सर्वथा निरपेक्ष है। यदि अनुभूति, सम्प्रेषण तथा अभिव्यक्ति के पृथकाभासों को हम स्वीकृति दे दें, तो भी चैतन्य तरलता इनका यौगिक है, मिश्रण नहीं।

रुचि-भेद और दैहिक स्थिति के तत्त्व लोक वैषम्यपोषी हैं, किन्तु ये सतही हैं। अनुभूति बिम्बों से निर्मित विचारकोश तथा कल्पनात्मक स्वरूप के निर्धारण के लिए संचित बिम्बों की योग-सृष्टि भी हमारी चेतना के वैषम्य धरातल पर स्थित हैं। विराट् साम्य की इकाइयों से संयुक्त विभेद के कण भी वैषम्य अथवा अनेकता की

ही सृष्टि करते हैं। किन्तु हमारा विराट साम्य-सिन्धु जीवन की हर इकाई में उसी प्रकार तरंगायित है। किसी कारुणिक प्रसंग से सभी व्यष्टियाँ करुणा ही भरती हैं। हाँ, विभिन्न इकाइयों में उत्थित करुणा में घनत्व-भेद होता है। किसी जीवन-प्रसंग को अभिनीत होते देखकर सभी व्यष्टियाँ अपने नायक और खलनायक को पहचान लेती हैं। इस उत्थान के लिए किसी शिक्षण-प्रशिक्षण अथवा मान्यता के सहारे की आवश्यकता नहीं होती। सभी व्यष्टि-केन्द्र एक ही आर्द्रता, एक ही तरलता से तरंगायित होते हैं।

यही साम्य-सत्ता, यही तरंगग्राही चेतना भाव है। वह हमारी चिन्मयता का उद्रेक है, हमारा सहजात्मी प्रकाश है। इसकी तरंगों से शरीर, प्राण और मनस् तीनों ही आविष्ट हो जाते हैं। मनस् पर व्याप्त इसके आवेश को संवेग कहा जाता है। मनोविज्ञान के अध्ययन में तो 'संवेग' एक सम्पूर्ण सत्ता है किन्तु जीवन के अध्ययन में, चेतना के अध्ययन में यह एक अवयव है। मनस की भी एक आशावादी भूमिका है। वह अपनी परिधि की फेरी करने के उपरान्त अपनी अक्षमता को भी ध्वनित कर देता है, अपनी सीमा की घोषणा करने के साथ एक निस्सीम लोक की ओर भी इंगित कर देता है। भाव-सत्ता की आंशिक तरंगें तो मनोविज्ञान के सीमा-क्षेत्र में आ जाती हैं, किन्तु इनका समुच्चय इस सीमा-वलय की सामग्री नहीं हो सकता। भाव मनोविज्ञान का विषय नहीं है।

पृथकत्व की प्रतीति के उपरान्त भी अनुभूति, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण एक ही प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं। भाषा के द्वारा प्रस्तुत किसी मनस्-विवेच्य विषय की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति अर्थपूर्ण और तर्क-पुष्ट होती है, कलात्मक भी हो सकती है। संवेगाविष्ट मनस् की अभिव्यक्तियाँ भाषा में सांकेतिक गूँज भर देती हैं और वहाँ अर्थ-विवेचन की चेष्टा अभिव्यक्ति को ही अवगुंठित कर देती है। जब भाव-तरंगों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है, तो भाषा पूर्णतः संकेत-गर्भित हो जाती है, वह अर्थ-विवेचन से परे हो जाती है और सम्प्रेषण उसका प्राण बन जाता है। तीनों आधारों के

कारण काव्य तीन कोटि का होता है। एक में मनस् की शक्ति, दूसरे मे मनस् का स्वरूप और तीसरे में भाव-सत्ता होती है। पहली कोटि का काव्य मनोरंजन तक, दूसरा तन्मयता तक और तीसरा चिन्मयता तक पहुँचाता है।

भाव ही काव्य का प्राण है। अत शाश्वत काव्य का उन्नयन जीवन के जागरण का सूचक है। वह क्षण, जब महर्षि वाल्मीकि ने भाव-विह्वल होकर "मा निषाद·· ——— · " ध्वनित किया, जीवन के इतिहास का बडा ही शुभ क्षण था, क्योंकि उसी क्षण यह प्रगट हुआ कि व्यष्टि की, जीवन की, भाव की समग्रता अभिव्यज्य है। वह जीवन में काव्य के अवतरण का क्षण नहीं था, जीवन तो समग्र था ही। उस क्षण सम्प्रेपणीयता को आधार मिला। काव्य ने मानव-सभ्यता को गति दी है, सामाजिकता को परिष्कार दिया है, अस्तित्व को निर्भयता दी है और जीवन को परिव्याप्ति दी है। काव्य का अनवरत प्रवाह जीवन की प्रवाहमयता का, चिन्मय की अभिव्यक्ति चेष्टाओं का इतिहास है। मानव-इतिहास की वह घड़ी भयावह होगी, जब काव्य का स्रोत सूख जायेगा, सम्प्रेपण की लहरें विलुप्त हो जाएँगी अभिव्यक्ति का शंखनाद रुक जाएगा। किन्तु ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि जीवन क्रमश चिन्मयता की ओर गतिशील है। व्यस्तताओं और सघर्षों की जैसी कठोर चट्टानों से हम जूझ रहे हैं, निश्चित ही एक अभूतपूर्व क्रम है। इन चट्टानों की पारभासकता तक भी यही युग पहुँचा है। आगामी सहस्राब्दियाँ पारदर्शकता तक जाएँगी और पुन आगामी इन चट्टानों का अवरोध सर्वथा समाप्त कर देंगी। संघर्ष और जड़ता के विमथन में जितनी छेनियाँ, जितनी तत्परता से, जितने वेग से तथा जितनी सफलता से आज चल रही हैं, इससे पहले शायद कभी नहीं चली थीं। मानव जितनी आशा से उठ रहा है, मानवता जितनी तेजी से पार्श्ववर्त्ती कल्मष को काट रही है, सब अभूतपूर्व है। इन पारभासक चट्टानों से जीवन का आलोक झिलमिलाने लगा है। काव्य की मुक्त जागृति की वेला में ही उसके अनस्तित्व के लक्षण

टटोलना युगीन मानसिकता की देन है। सम्भव है, यह व्यामोह छन्द और अर्थ के छिलकों के बिखराव के कारण उत्पन्न हुआ हो। युग के उद्भव के साथ युगीन अर्थों का काया-परिवर्तन होता जाता है, ध्वनि के नवोन्नयन के लिए शब्दों को पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जीवन के सतत विकास का अर्थ है काव्य का तदनुरूप विकास। मानसिक व्यस्तता की जटिलता ने आज के काव्य पर छाया छोड़ी है, यह छाया युग की परिचायिका बन रही है। छिलके का, मरी चमड़ी का झड़ना धमनियों में नए रक्त के आगमन का सूचक है। कला और काव्य के क्षेत्र में जो इस मरी चमड़ी से, इस भुरभुरी पपड़ी से चिपके हैं, उनके प्रति भी अभूतपूर्व सहानुभूति हमारे विकास का तकाजा है। यह पपड़ी, यह चमड़ी एक भी मानव को न ले जा पाए—यह मानवता की पुकार है।

'मा निषाद— ——— · — · ' ने शिव-अशिव का प्रश्न ही मिटा दिया। जहाँ काव्य है, समग्र जीवन है, उत्थित भाव है, वहाँ अशिव का प्रश्न ही नहीं है। कवि चिन्मयता से अभिभूत होता है। शिव अशिव की बातें चिन्तन की परिधि पर ही रह जाती हैं। अशिव-शिव का विचार कवि के साथ नहीं, सन्त के साथ होता है। कवि और सन्त एक साथ नहीं रहते। सन्त आता है, जब कवि जा चुका रहता है। कवि तुलसीदास ने पति के निधन पर विलाप करती मन्दोदरी का अतीव सम्प्रेषण-सघन चित्र प्रस्तुत किया। इसी भाव-सघनित स्थल पर सन्त तुलसी आ उपस्थित होते हैं। सन्त तुलसी के इंगित पर मन्दोदरी का विलाप एक नई मोड़ लेता है

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा।
रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं।
राम बिमुख यह अनुचित नाहीं॥

रावण की यह गति कवि तुलसी की मन्दोदरी नहीं देख सकती थी। यह मन्दोदरी का भाव नहीं, सन्त तुलसी के विचार हैं।

* * *

आज हम काव्य के प्रति, जीवन के प्रति अधिक आशावान हैं। हमारी सामूहिक प्रगति-चेष्टाएँ हमें तीव्र वेग से जीवन के आलोक की ओर ले जा रही हैं। साधनाओं तथा प्रयोगों की शृंखलाएँ हमारी विचारणा को उस आधार तक पहुँचा लाई हैं, जहाँ से आशावानता जीवन की संगिनि हो जानी चाहिए। हाँ, एक नई अड़चन भी उपस्थित है। जिस प्रकार व्यक्ति रूप में हम समाज की इकाई बन गए हैं, उसी प्रकार इस सामूहिक प्रयास-यज्ञ की सम्बद्धता ने हमारे मनस् एवं कर्म लोक को विशेषज्ञता (*Specialization*) से कस दिया है। व्यक्तियाँ अलग-अलग विषयों की विशेषज्ञता से पृथक्-पृथक्-सी हो गई हैं। एक नई वर्गात्मक ऊहापोह उपस्थित हो गई है। विषयों के विभेद से उत्पन्न दृष्टिकोणों में विभेद के कारण ही ये वर्ग खड़े हुए हैं। फलस्वरूप जीवन के सर्वांगीण विकास विषयक आधार पर घोषात्मक टकराव उत्पन्न हो गये हैं। और सहिष्णुता युग-धर्म हो गयी है। भौतिकी का ज्ञाता काव्य को पोथा समझता है; रसायन का विशेषज्ञ इतिहास को निरर्थक मानता है। एक अनूठे प्रहसन का वातावरण प्रस्तुत है। अलंकारों और छन्दों के महापण्डित चौंधियाए हुए हैं कि रसायन के इन सूत्रों में भरत, और अभिनवगुप्त के बताए हुए रस कहाँ हैं। विकासवाद को पचाकर मज्जा में घुला लेने वाले वैज्ञानिक चकराए हुए हैं कि बम्-बम् बोलते त्रिपुण्डधारियों को विकास की किस श्रेणी में रखा जाय। पंचतंत्र की कथा घोटकर आश्रमों में झाँकने वाले आज की राजनीति की जटिलता देखकर सिर खुजला रहे हैं, तो आधुनिकता के परिवेश में वेष्टित खोखली पीढ़ी को देखकर तत्ववेत्ताओं को पसीना आ रहा है। हमने जितनी बहुती उपलब्धियाँ अर्जित की हैं, ऊहापोह का वलय भी उसी अनुपात में बढ़ गया है। हमारी उपलब्धियों का प्रकाश जीवन पर एक ओर छाए विशेषज्ञता की गाढ़ी पर्त से छनकर नहीं आ पा रहा है, दूसरी ओर एक विशाल मानव समाज उस पपड़ी की आड़ में ही सन्तुष्ट है जहाँ विज्ञान को कोसने के लिए 'परमाणुबम' शब्द की जानकारी और उसके

पक्ष समर्थन के लिए 'प्र द्यान' शब्द की जानकारी प्रस्तुत हो रही है। एक विलक्षण प्रहसन, एक विलक्षण टकराव उपस्थित है। राजनीति, धर्मनीति आदि के छिलके रगड़ खाकर घिसते जा रहे हैं। जीवन अधिकाधिक मुक्त होता जा रहा है। संघर्ष छिलकों के साथ ही है। "संघर्ष ही जीवन है" के नारे के पीछे घिसते हुए सारे हल्के मूल्य अवस्तित्व की ओर बढ़ रहे हैं, अच्छा है उसे ही वे जीवन समझें और घिसाव अधिक तीव्र हो। उपलब्धियों तथा सामान्य व्यक्तियों के मानसिक स्तर के बीच का यह अन्तराल अभूतपूर्व है, किन्तु सन्तोष है कि हल्के मूल्यों का घिसाव भी अभूतपूर्व है। ऊहापोह है, अन्तराल है, टकराव है और घिसाव है। कोई चिन्ता की बात नहीं, यदि घिसते वादों ने बाजुओं पर 'विज्ञान' शब्द का तावीज और कण्ठ से 'काव्य' तथा 'कला' शब्दों की कण्ठियाँ लटकाकर अपने दैवत्व-दम्भ का जयजयकार प्रारम्भ किया है।

जो दुर्गति आज 'परमाणु' शब्द की है, वही 'भाव' शब्द की युगों से हुई है। हर दूकान पर भाव मिलता है और काव्यानुशीलन के विद्यार्थी को भावों की एक पल्टन से जूझना पड़ता है। राष्ट्र-भाव, देश-भाव, जाति-भाव, धर्म-भाव उपकार-भाव, आदि अनेकानेक आवेश या संस्कार भावों का रामनामा ओढ़े फेरी लगा रहे हैं। रामनामा ओढ़ने वालों को कहाँ फुर्सत कि वे इतना विचार करें कि यदि बेचारी कौशल्या उन्हें देखे तो अपनी कोख पर कितना अविश्वास करेगी। बहुमत और तर्क का कवच बाँधने वाले भावों को 'नकली' कह देने से भी शामत आ जाय। क्या करें बेचारे भाषा-शास्त्री! समाज जो सीखेगा, वह उन्हें ढोना ही पड़ेगा। चटकीले वालों के 'हाव-भाव' के कोश तो अभी अलग ही हैं।

भाव के प्रकार नहीं होते, वह समग्र होता है। वस्तुतः एक ही प्रक्रिया है, जो सब अंगों में व्याप्त है। भाव एक ही है जो जीवन प्रवाह की समग्रता में प्रकाशित है। अभाव तथा घनत्व में भेद की प्रतीति के कारण अध्ययन तथा परिचय की सुविधा-सुगमता के लिए कुछ वर्गीकरण की रेखाएँ खींच दी जाती रही हैं। अस्तित्व

का मोह भी भाव की माँग है किन्तु उसका छिलका है। जीवन भाव पर चोट आते देखकर अस्तित्व-मोह को दाँव पर रख देता है। भाव जीव की सत्ता का नहीं वरन् जीवन की सत्ता का, चिन्मय की दिशा का आग्रह है। भाव चिन्मय और जगत को जोड़ने वाला आलोक-मार्ग है। *

—शिवाशंकर त्रिवेदी

---

* २६ अक्तूबर, १९६८ को पिलानी विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापकों एवं शोध-छात्रों के बीच श्री त्रिवेदी के भाषण का आयोजन हुआ। हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान श्री पतराम गौड़ (अध्यक्ष—हिन्दी विभाग) ने आयोजन की अध्यक्षता की। श्री त्रिवेदी ने "क्या काव्य-युग का अस्त हो रहा है ?" प्रश्न का विचारात्मक समाधान उपस्थित किया। डॉ० पद्माकर शर्मा, डॉ० गोरधन सिंह प्रभृति साहित्यकारों के आग्रह पर उन्होंने अपने उक्त भाषण की विचार-सामग्री को मसिबद्ध करके उसे प्रस्तुत निबन्ध का रूप दे दिया।

श्री त्रिवेदी किसी विषय की मौलिक पकड़ के लिए चर्चित हैं। उन्होंने मानव जीवन के आधार-फलक पर काव्य का अध्ययन करके अपनी उसी मौलिकता और वैज्ञानिक प्रतिपादन का परिचय दिया है।

—कमलकान्त सिंह

संदर्भ

सप्तसिन्धु के पथ-प्रान्तर-वन
पवन-वेग अश्वो की टापो से उत्पीडित
लौह आयुधो की झन्-झकृति
स्तर-स्तर पवन-गगन आन्दोलित
बर्बर हुङ्कारो से आतङ्कित
दिङ्मण्डल ।

आर्यों का दल
सागर-गिरिवर-चर्चित-रक्षित
नियति-निसर्ग सुपोषित, सुललित
वसुधाञ्चल मे
लगा फैलने
अनाहूत शैवाल जाल-सा

द्रविड भूमि ने तव जाना

अविजेय तुङ्ग दृढ
हिमनग मे भी
कही दरारे पडी हुई है
चट्टानी पेशिया
गठन मे कही रुग्ण है
कही शिथिलता है
प्रहरी के दृढ सयम मे।

आस्था का प्रस्तरीभूत
दुर्जेय हिमानी
लगा जम्हाने!
घनीभूत विश्वासो के
दुर्भेद्य दुर्ग की
प्राचीरो मे
आह, दरारें!!

यही दरारें

देश, जाति, सस्कृति धर्मों के
सुदृढ ऐक्य मे प्रश्रय देती
पतन, पराभव, परवशता को
व्यष्टि-योग में शेष रही यदि
मौत वही सबल पाती है

संदर्भ

पलते इनमे चाटुकार
सत्ता-प्रभुता के
महीरुहो की जड़ें कुतर
जो गिरा दिया करते धरणी पर
भेदी ढलते-पलते इनमे
पेय प्राप्त कर अवहेलन का
लिप्सा-जनित प्रयास शत्रु के
बढते इनसे
जहा दरारें
वहा अरारें
टूटेंगी ही !

युद्ध ! युद्ध !!
अविराम, अनवरत !
अब्दि-अब्दि शत !!

हर प्रभात के गौर वदन पर
प्रति सध्या के धूमाञ्चल पर
धब्बे थे मानवी रुधिर के ।
नगर-डगर-गह्वर-गिरि-कानन
दिशा-दिशा मे उठी गूज

अविजेय दुन्दुभी आर्य जाति की
वैभव की अनगिन दीवारें
हिली-गिरी
संस्कृति-गरिमा की
व्योम चूम दिपती
मीनारें ध्वस्त हो गईं
पौरुष के पर्वत अगणित नत हुए
शैल श्री-शौर्य-धैर्य के
मिले धूल में
    दीप्त विभव का
    हुआ पराभव
    उदय नवल का !

सम्भव कैसे
    वह जाति
    शौर्य, गृह-गौरव
    जिसका लुटता हो
    पानी तलवारों में
    तन में शुचि प्राण-अश,
    संस्कृति में निष्ठा

देश-प्रेम

विस्फीत धमनियो मे रहते
स्वायत्त-सलिल लुटने देगो !
क्यो पाहन से पाहन
न भला टकरा दे वह
देशानुराग के मन्दिर मे
दीपक यदि उसे जलाना है
अस्तित्व शेष रखना है
यदि अपनेपन का !
मानव की
माटी का
मन का
जीवन का
स्वाभिमान खोकर
जीवित रहती जो जाति उसे
मानवता कभी नही वरती।
पानी के रक्षण हेतु
कोष लुटता है
स्फीत धमनियो का !

क्लीवों का पोषण
धर्म जहा बन जाता है,
कायर गढते हैं न्याय-सूत्र,
प्रहरी ढोता है दास-भाव,
व्यक्तित्व-मोह छा जाता है
साहित्य-कला-आदर्शों पर,
वीरता नही नमनीय जहा,
छौने-सा कटता स्वाभिमान
यौवन उर्जा का सिन्धु जहा
कुण्ठा-पीडित, उपयोग वीत
सर्जक-सचालक अह-ग्रस्त
औरो पर चलता हो विधान
सडती उर्जा, खण्डित प्रदेश
पर नीति ओढती
तर्क-निमज्जित अलङ्कार
उस देश-जाति का
पतन
पराभव ·
निश्चित है ।

इसीलिए बस

जन्म भूमि की
माटी-ममता
देश, जाति-अस्तित्व,
धर्म-पथ के अनुरागी
द्रविड नारि-नर
तप्त रुधिर की खीच गए
रेखाए भू पर

वे रेखाए—
जिन्हे विजेता की लेखनिया
मसि के धब्बो से ढक देती।

नही उठा पाती युग का
इतिहास समुज्ज्वल
लेखनिया जो
तलवारो का
आब देखकर
विचलित होती।

[और पेट की क्षीण परिधि को
जीवन का सर्वाङ्ग मानकर

सत्ता का उच्छिष्ट चाटकर
जीने वाले
वाणी के व्यापारी
व्यभिचारी भावो के
हत्यारे आदर्शों के
प्राणो के लोभी
अनुदात्त चारण
मृत शब्दो की मनकाए
पिरो-पिरोकर
छल को कौशल,
क्रान्ति भ्रान्ति को
बलिदानो को युग-कलङ्क
मानव को दानव
पाप-शाप देशानुराग स्वायत्त भाव को
दुर्हठ जागृत अधिकारो को
भूल मूल को
कह कह कर रच देते
सत्यम्
शिवम्
सुन्दरम्
स्वीकृति देते
विजयी के
बर्बर असि-अक्षर]

शेष बचे जो

स्तम्भ
द्रविड सस्कृति-गरिमा के
विवश-अर्गलाओ मे जकडे
शमन-विसर्जन
अर्पण करते
स्वाभिमान का।
कसमस करती
मास पेशिया
पिसते दशन
छीजते तनकी
आहुति लेकर
सुलग रही
धुधुआती-सी
प्रतिशोध-चेतना ।।
घुलनशील
होता न कभी प्रतिशोध
धधकता जब
जलते प्रतिरोध
या स्वयम् बनकर छार
बिखर जाता है
नही जानता छल-प्रपच
विश्वासघात, अर्पण,

प्रवचना का मिथ्या
अभिनय करना वह
प्रायश्चित का छार
ओढकर सोते नही
दहकते अगारे पौरुष के,
दास्य और प्रतिशोध भाव मे
सन्धि-शर्त क्या !
जीवन की ज्वाला से
अस्पृश्य क्लीवता
विजेता के सम्मुख
जो झुक जाती
उसके जल से
जातीय गर्व का
अकुर नही पनपता है
प्रतिशोध
जागते गौरव का
उन्नत फन है।

*　　　　*　　　　*

किन्तु प्रगति, प्रभुता, पौरुष को
नही सभाल सका
अन्तर्मन आर्य-जाति का।
अहकार, उन्माद, कलह के
मरणान्तक नासूर

फूटते थे रग-रग से,
विजय-गर्व से
नित्य-विवर्द्धित
युद्ध-एषणा के फोड़े
बढ़ते थे दिन-दिन
विजय-कलश के तरल गरल को,
यश-विलास मे छिपे
अह् तक्षक के फन को
नही सके पहचान नेत्र
जो 'लौह और लोहू केवल
दो रग' मानते।

जन-जन का स्वीकार
समर्पित था आयुध मे,
द्यूत दाव पर उतर न पाता
दम्भ हृदय का,
पौरुष ढला हुआ था
दैहिक
बौद्धिक
यौद्धिक
छल कौशल मे,
भूल चुका था
सामवेद का स्वर आराधन
प्रत्यचा का घोष मात्र

सगीत रह गया
हूक और हुङ्कार मात्र
दो राग शेष थे।
शिल्प शेष था दुर्ग-सृजन मे
व्यूह और आयुध मे था
विज्ञान समाहित
मदिर सूने
पूजन के स्वर
उठते थे
शस्त्रागारो मे।
जीवन की
प्रत्येक साधना का
कोई अधिकार-समाहित
एक मूल्य था
अल्प या अधिक,

यौवन की सामर्थ्य-शक्ति
अभिव्यक्ति जानती थी सत्ता मे
तर्कों की सामर्थ्य देखकर
न्याय वदल लेता मुख अपना,

तप पूत विजयी वीरो के
वैभव के उत्तराधिकारी
दास बने थे
गदा, शरासन

शर, कृपाण के—
बस शस्त्रो की
तुला तोलती
अर्थ-धर्म को
मोक्ष-काम को ।

और एक दिन
भावो का अनुवाद क्रिया मे
गूजा अम्बर
गुञ्जित पवन
अतल सागर, गिरि
हुङ्कारो से
कुरुक्षेत्र मे
लगा धधकने
शौर्य हुताशन

* *

अहकार ने
मेधा-चाक चलाकर
अगणित मृत्ति-पात्र गढ दिये,
कृष्ण ने ज्ञान-भक्ति
औ योग-कर्म के
कर-पल्लव से
ठोक-बजाकर
सिद्ध कर दिया

सभी ठोस हैं,
सब मगल घट,
स्वेच्छा-सरि के गुह्य भवर से
भरें सभी अपने-अपने घट
सयम है प्रतिरोध प्रकृति के
द्रुत
निश्चित
अविकल प्रवाह मे।

पहली बार
योग आ बैठा
स्यन्दन पर
सारथी-रूप मे
स्थिर प्रज्ञा को
मानव बलि की
सान मिली थी,
धर्मक्षेत्र मे छल-बल का
कोलाहल रचकर
भुला दी गई 'आह' मनुज की

पहली बार
निमित्त बना
मानव सन्मन से
सृष्टि-नियम का,
पहली बार

सुना मानव ने
सृजन घृणित,
सहार प्राकृतिक
शान्ति, विवेक, विचार हेय हैं
युद्ध प्राकृतिक
प्रथम-प्रथम ही
आत्मज्ञान का मन्त्र बना था
'भोग विजय मे । स्वर्ग मरण मे'
ससृति-वन की बची-खुची
कोपलित, प्रफुल्लित
सामाजिकता, स्नेह-भाव की
विरल टहनिया
ज्ञान और अध्यात्म चर गये,
ठूठ रह गये शेष
शस्य के क्रीडाङ्गण में
प्रथम-प्रथम ही मानव ने
जीवन-दर्शन पर
महामरण का नर्त्तन देखा
करुणा, ममता, सवेदन
सौहार्द भाव को
स्नेह, सृजन को
माया का शव कहकर
फूक दिया

रण-मरघट मे ले जाकर
शुष्क ज्ञान की चिता सजाकर
स्थितप्रज्ञो ने।

सत्य!

अष्टदश अक्षौहिणी मनुज आत्माए
मोक्ष हेतु तन-जीर्ण-वसन का
जाल काटने को व्याकुल थी!

सत्य!

मोक्ष ही इष्ट रहा जो
सत्ता और मुकुट पाने को
उभय पक्ष उन्मत्त बने थे?

और हुआ क्या
योगेश्वर की वाणी का?
गीता के स्थितिप्रज्ञो का
क्या जीवन-स्वरूप था?
कोटि-कोटि घृत-दीप
विजय के लघु लक्षण पर
स्थितिप्रज्ञो ने ही बारे थे
और पराजय की आशका,
पक्ष-हानि पर
पीपल पात सदृश डोला था
तन-मन-जीवन स्थितिप्रज्ञो का

डाल गदा-गाण्डीव-शरासन
गङ्गा-यमुना वहा-वहाकर
युद्ध-शिविर-थल सींच दिया
कम्पित कर दिया
आर्त्त क्रन्दन से
गगन-पवन को
स्थितप्रज्ञो ने ।

'कण्टक से कण्टक' के नय पर
दम्भ, दर्प, रण-वृत्ति, अहम् का
हुआ विसर्जन
सङ्ग प्राण के ।
अस्त हो गया
शौर्य-दिवाकर ।

— ० —

अपर्णा

एक दिवस
मन्दाकिनि सिमटी
मन्द-मन्द श्लथ
खिसक रही थी
शोक विमूर्च्छित
अम्बर के
च्युत, अस्त-व्यस्त
मलयज दुकूल मे
वदन छिपाए
सिसक रही थी
कूलो ने तर्जनी कोर निज
अधरो पर रख
ज्यो सकेत किया हो कोई
थहर गया था नीर
भवर के भ्रान्त विवर मे
कही खो गई
उर्मिल लहरें
चञ्चल धारा
कही सो गई !

सरि के तट पर

आज शोक-घन-से
मडराये—
शेष बाल, अबला
आहत नर, वृद्ध
अश्रु से भर दृग-अञ्चल
तिल-पय से अञ्जलि
घायल स्मृतियो से अन्तर,
जनक, भ्रातृ, पति
सुवन, सखो की
आत्माओ को
करने लगे
पिण्ड-जल अर्पण
भाव-समर्पण ।

आज मौन थे

विजय, विभव
साम्राज्य, छत्र से
अर्चित
पूजित
वरित
पाण्डु के पाच पूत
जिनकी गाण्डीव-गदा के
हार-प्रहार-ज्वार मे

लीन हो गए
सदा सर्वदा को
कितने ही तुङ्ग अचल
पौरुष गरिमा के ,
जिनकी टङ्कारो-हुङ्कारो
से कम्पित थे
सागर, गिरिवर
गगन, प्रभजन !

आह ! मौन वे आज
जिन्होने कभी न माना
पाहन की जडता मे भी
निर्झर होता है
बुद्धि-नीति
कौशल, तन-बल की
छाया मे भी
एक करुण, कोमल
सवेदित, स्पन्दित
अन्तस्तल होता है,
कभी न माना
नही टूटता नाता मन का,
जहा हारता ज्ञान-सिन्धु
करुणा का बिन्दु अतुल होता है

आज मौन वे
कहा जिन्होने
'स्नेह पराजित।'
दुर्योधन पर दाव
विफल जब हुए
अकिञ्चन राजनीति के।
कुरुक्षेत्र मे ली अगडाई
जब अन्तस्तल की पीडा ने
गीता-दर्शन
ज्ञान-योग की
घूटी पीकर
किया विमूर्च्छित
स्नेह-भाव को।
बुझे अष्ट-दश योगो मे
शायक मनमाने
उछल-उछल प्रत्यञ्चा से
आहत, मूर्च्छित, मृत, अग-भग
कर गए स्नेह को
ःणा को,
।, सवेदन को।
ह। आज तक
ह्वल क्रन्दन
ाहत, घायल

मृदुल स्नेह का
गूंज रहा जग के निर्जन मे
कसक रही करुणा जीवन मे
इन्हे उठाकर मनु को सतति
कब भर लेगी अन्तस्तल मे !

आज मौन थे
पूत पाण्डु के
हल्के, कोमल आकुल
दिल के ही प्रहार से
काप रही पर्वत-सी काया !
गदा-मुष्टि के
घन प्रहार से
गठित पसलिया
आज सुलघु उर
के प्रहार से
धूल-धूल होने वाली थी !

आज मौन थे
तन-बल, रण-कौशल
के मानी
भीषण था प्रहार
अन्तर का !

बैठी दोनो वाम पार्श्व मे
गौरव-गर्भा जननि सुभद्रा
द्रुपद-सुता जिसके वेणी-लट
थे किञ्चित रक्ताभ
मनुज के रक्तपान से ।

खड़ी उत्तरा
यौवन की कोरी कलशी पर
यथा किसी डायन ने अपनी
कलुष साधना
घृणित पिपासा
जादू-टोना
का दीपक
टिम-टिमा दिया हो
काल-डगर पर
तिमिराञ्चल मे,

जीवन के उपचार दीखते
इर्द-गिर्द बिखरे
प्रसाद--पट
सुमनाक्षत--से

खडी उत्तरा

ससृति पादप की टहनी से
असमय भूले
असमय पीत
विवर्ण पर्ण-सी
जिससे रसमयता का नाता
तोड लिया हो तरु-जीवन ने !

खडी उत्तरा

क्रूर काल के
खड्ग भार से
दबी, मलीन
मसृण कलिका-सी !

सम्मुख—होता
कुश, पल्लव, जल
अभिमन्त्रित कर
भरने लगे
धनञ्जय की अञ्जलि
'प्रेतात्मा तेजस्वी अभिमन्यु'
बोलकर

"प्रेतात्मा ! ! ! "
सुन—दलक उठे दिल
स्नायु-देश पर तडित्-पात्-सा
हुआ अचानक !
किसी लाडले
जीवन-धन के लिए
विशेषण प्रेतात्मा !
दुर्भाग्य ! आह !
प्रारब्ध पाप का !
मुख-मण्डल से तप, सयम
पौरुष, निर्भयता
गीता और पुराण-ज्ञान का
तेज पोछकर
प्रबल हूक ने
फेर दिया स्याही की कूची !

पर्वतकायी पाण्डुपूत
हिल गए सिहरकर
शब्दशून्य रह गई सुभद्रा
ढही उत्तरा—सज्ञाहीना-
सत्वर सवेदित बाहो मे
द्रुपद-सुता ने उसे सभाला

"प्राण, महाभारत से दुस्तर
चक्रवात ये शोक-ताप के
कितने झेलेगा दीपक
वह पाण्डु-वश का
तेरे स्नेह-देह से जो
जलने वाला है!
हाय, अभागिन!
मातृ-भाव से इसे सभालो
सूखे तृण-सी उडे नही
ससृति-प्रवाह से
शौर्य-वश की
क्षीण कहानी!"

*

किञ्चित सुलझा
उभरा, धूसर
घिसकर बौना
निस्तब्ध शिला के
छौना-सा पाषाण-खण्ड ।

आसीना अबला
साध्य-वया
रेशम-से कुन्तल
मसृण धवल
सित-समुचित पट
आनन की
ओज-तेज-श्री पर
बिखरे वय-वर्षों के अक्षर
कुछ सघन-विरल
कुछ स्पष्ट-गहन
कुछ ह्रस्व-दीर्घ
कुछ स्वर-व्यजन
विह्वलता अन्तर की उठकर
मात्राए अविरल रही बदल
जननी रणधीर कुमारो की
वह कुन्ती थी ।

△

पर्वतकायी पाण्डुपूत
हिल गए सिहरकर
शब्दशून्य रह गई सुभद्रा
ढही उत्तरा—सज्ञाहीना-
सत्वर सवेदित बाहो मे
द्रुपद-सुता ने उसे सभाला

"प्राण, महाभारत से दुस्तर
चक्रवात ये शोक-ताप के
कितने झेलेगा दीपक
वह पाण्डु-वश का
तेरे स्नेह-देह से जो
जलने वाला है !
हाय, अभागिन !
मातृ-भाव से इसे सभालो
सूखे तृण-सी उडे नही
ससृति-प्रवाह से
शौर्य-वश की
क्षीण कहानी !"

*

किञ्चित सुलभा
उभरा, धूसर
घिसकर बौना
निस्तब्ध शिला के
छौना-सा पाषाण-खण्ड ।

आसीना अबला
साध्य-वया
रेशम-से कुन्तल
मसृण धवल
सित-समुचित पट
आनन की
ओज-तेज-श्री पर
बिखरे वय-वर्षों के अक्षर
कुछ सघन-विरल
कुछ स्पष्ट-गहन
कुछ ह्रस्व-दीर्घ
कुछ स्वर-व्यंजन
विह्वलता अन्तर की उठकर
मात्राएं अविरल रही बदल
जननी रणधीर कुमारों की
वह कुन्ती थी ।

'प्रेतात्मा अभिमन्यु !"
श्रवण कर
अन्तर-बाहर
गूज उठा
"मा ! . .. !!"
ध्वनि आई
कसकी कुम्हलाई कोख
झनझना उठा
स्नायु का जाल गहन !

ऊपर से स्थिर
अन्तराकाश
द्रुत धूमकेतुओ
से पीडित !

नि सृत झझा-सा अहभाव
विस्फोट !
पुन विस्फोट !!
टूटता एक-एक आवरण—
प्रथम—अनुराग सजोया
नाट्य-तुष्ट अस्तित्व भाव
मोहान्ध प्रथा के निरस तन्तु
विच्छिन्न पुन

आचारो के अनुबन्ध-छिन्न
छिलको-से बिखरे इतस्तत ,
शब्दो का कारागार भग्न
विश्वास ऐंठकर विष विषण्ण
निस्तेज मान्यताए लुण्ठित
मन्त्रो के कानन आन्दोलित
स्तुति के
प्रशस्ति के
पुण्य-पाप के
लोभ-भीति के
अम्बर-चुम्बी राजभवन
दीपित विराट
लो धरा ध्वस्त !
बिखरा विचूर्ण होकर
सयम का शैलराट्
पर्तों से निकला
अग-भग
बेडौल
रूप विकृत
कुण्ठाओ का समूह !

झझा ने भी पहचान लिया
थी यही रूपसी ललनाए
लावण्य-सरोवर से निकलीं

सम्मुख जिजीविषा के
आ सजधज खडी हुई
माधव सुहाग की
एक किरण की
भीख हेतु
नत मस्तक
मूक
समर्पित-सी।

अधमरी

झुलसकर किन्तु
दाब दी गई
क्रूर सयम के
खण्डो के नीचे।
जीवन-गह्वर का
अश-अश पीडा-झकृत
कल्पना-भाव के चिर
अवन्ध उपवन गुञ्जित
लालसा-लहर मर्दित
थहरा जीवन-प्रवाह
कण-कण को तप्त
परस देती गूजी कराह—
'मा · !
'जननि ।।
'आह ।।।"

"मा   ऽ   ऽ   ।"

धूमाकुल ब्रह्म अण्ड को
जैसे कोई
महाकाय
देशान्त व्यापिनी
क्रुद्ध नागिनी
पकड-जकड
निज कुण्डल के
अनुबन्ध-क्रोड मे
तोड रही हो
शक्ति-सृष्टि
सहार-नियम की
गति-गुन्जन की
स्नेह-सृजन की
आवर्त्तन की
परिवर्तन की
गठित शृ खला
चरमर-चरमर
अग-अग पर
अविरल दशन
भूल चुका हो
मूर्च्छित घुमिल
अणु-अणु ज्यो
अपनी परिभाषा ।

"माँ... . ऽ . ऽ .. ! ! "
कि जैसे
तड़ित् की टङ्कार से
जल-भार बोझिल
वाष्प-सकुल
श्याम मेघल
नील
कर चीत्कार
दर-दर हो दरकता
स्मृति-गगन के सब
सलोने स्वप्न-चिन्तन
आस के, उल्लास के
विश्वास के
मदर पिघल-गल
हरहराते-टूटते-
गिरते भहरकर
वेदना खल-खल
निराशा उफन फेनिल !
"माँ ऽ . ऽ ! ! ! "
कि जैसे
प्राण ही
उद्दाम झझावत बन
चिन्तन-शिराएं तोडता
झकझोरता विश्वास के तरु

मूल शाखा
चरमराती, ऐंठ जाती
एक शाखा दूसरी को
तोडती झकझोर देती
अग्नि-गर्भा कल्पनाएं
कौंधती टकरा
उगलती ज्वाल अविरल ।

*   *   *

गुञ्जित तीन पुकार
पलक के पट उघार
देखा कुन्ती ने
अञ्जलि मे तिल-जल
अभिमन्त्रित
नयन प्रपूरित
करुणालय के तरल स्नेह से
थिर-अजेय
निस्सीम शौर्य का धनी भीम
कटि भर जल तल में
पिण्डदान कर रहा

घटोत्कच की आत्मा को
पिण्डदान ! —
जिससे आत्मा का
मुक्त हुआ करता भव-बन्धन !

पिण्डदान !
दैहिक विलास-परिपाक
हिडिम्बा के सुत को !
कुन्ती का पश्चाताप गहन
तुल गया सकल
पर प्रायश्चित की
विषम तुला पर
हल्का है !

हतभागिन !
स्नेह-गर्भ जिसका
रह गया सदा से पहरे में,
जिसका पहला वरदान
भटकता रहे अन्तर्हत
काल-दिशा की कक्षा पर !
तू नहीं पा सकी कुछ
सर्वस्व लुटाकर भी !

आदर्श कहा ?

उलझी समष्टि,

कैसा विपण्ण दुर्वह विधान ।

लोटे दुर्हठ के चरणो मे
झुक जाय सवलता के सम्मुख
आराधक का करले शोपण
भोगे कोई आवरण तान ।
करवाल-धार पर जो फिसले
पीता जाए अविराम ग्लानि ।

अविराम ग्लानि ।

फूटी जीवन की ज्वालमुखी
टूटी चट्टानें
लावा के फूटे उत्पीडक महास्रोत
विद्रोह-धूम के प्रलय-मेघ
घहरे-छहरे ।

उद्वेलित आन्दोलित प्रवात ।

सन्तुलन-हेतु
सीमा-वलयो पर
तोल रहे आवेग प्रबल
प्रतिचक्रवात ।

चक्राकुल रज-तृण से विचार,
च्युत पत्र-राशि-सा अहकार
जो अन्तस्-पीडा को दबोच
बैठे विस्मृति के शून्य द्वार
वह स्मृति प्रदेश को थी
झकोरने को व्याकुल !

विध्वस्त हुआ पल मे
समष्टि का राजभवन
क्षण पूर्व जहा थे
खडे स्तूप
निर्नींव धर्म, शासन,
सत्ता, आचारो के
बहुरञ्जित जिन पर लगे पट्ट
नय के, कर्त्तव्य-सरलता के,
सयम, शैष्टव, साफल्य,
त्याग, मर्यादा के ।
स्तुति के, प्रशस्ति के मान-पत्र
योग्यता-सुयश के पुरस्कार
ढोती सहर्ष मनु की सतति
नव उपाधियो का प्रीत भार—

कुछ दास बने
कुछ द्वारपाल।

वह देह-देश के वृत्तों पर
विलगाव-परिधियाँ रही उभर
थे जूझ रहे
मन के असंख्य उद्वेग प्रखर।

सिंहासन-वरित समष्टि-भाव
संरक्षण को
सम्मोहन-स्वरित
ऋचाएं पढ
था चटा रहा—
इन्द्रिय- तृष्णा का तरलासव
सम्मोहन–पीडित
व्यष्टि-चेतना को क्षण-क्षण।
शासन–सत्ता का हित-चिन्तन
नैतिकता का परिवेश पहन
था सिखा रहा—
'उपयोगी बन,
'प्रतियोगी बन।

'जो जितना वेचे व्यष्टि-भाव
जो जितना दास बने
समष्टि का, सत्ता का
वह उतना पाए
असन–वसन
साधन–अर्चन ।'
आचार सहिता बने
दास-जीवन-दर्शन
पुरुषार्थ–व्यष्टि का
क्रय-विक्रय ।

लुट रही व्यष्टि
शोषक पोषण
बिखरे थे कही अस्थि-पञ्जर
कुछ मास-पिण्ड, कुछ आन्त्र गुच्छ
कुछ सद्य तिरस्कृत हृदय-पिण्ड
जिनमे था अभी शेष जीवन
सचारित थी भूली धडकन
व्यक्तित्व विभा के चिन्ह विरल !
कुछ पूर्व सपोले थे लघु-लघु

दुर्जय परम्परा, नीति, प्रथा के दुर्निवार
अब बने हुए थे महाकार।
कर्पण से निज
मस्तिष्क—तन्तुओ को उभार
थे अट्टहास करते हक्-हक्
उद्घोष विजय के लुढक-लुढक
भू लुण्ठित अगणित दीर्घ शीप
जो चबा गए थे शुष्क ज्ञान
जो सूज गए थे
जीवन की सत्ता डकार
चिपके थे धागो—से
तन के बाकी उभार !

— ० —

स्मृति

उतरा स्मृति पट पर
पृथुल जाह्नवी का प्रवाह
सौन्दर्य-राशि-अर्चित यौवन
मातृत्व-विनय से बोझिल तन
टप्-टप् पय-चाप-विवर्द्धित स्तन
हृद्देश हिला देती धडकन !
आन्दोलित था विश्वास
द्वन्द्व पीडित था मन
अविराम कापते हाथो मे
मजूषा मे बन्दी शैशव !

[सामाजिक नियमन-अभिमन्त्रण
दे सके नही पर्यङ्क-हेतु
परिणय-बन्धन,
पावन परम्पराओ से
रोमिल पति न मिला,
जगली प्रणय का
हुआ नही सस्कार अभी
कमनीय प्रथा के हाथो से।
धिग् हा।
तब तक
दे गइ प्रकृति —
वर यौवन
वत्सल अन्तस्तल
दायित्व-भार
पलना मे मजुल शैशव-धन।
वक्षस्थल का फूटा
अमृत जीवन-निर्भर

[दुर्वह विडम्बना नैसर्गिक।
नि शङ्क, निरकुश, जड

बर्बर–दुर्बोध प्रकृति !
वह नही मानती
मानव का श्रेणी-सर्जन !
वह क्या पहचाने
मानव के आचार गहन ?
शास्त्रो की लय पर
होते हैं गतिमान चरण !
जीवन पर चलता
परम्परा का अनुशासन !
पावन समष्टि, नमनीय प्रथा
के साचे के अनुरूप
न करती प्रसव-सृजन,
अनगढ मौलिकता से
भरती जग का प्राङ्गण !
ममता, करुणा, वात्सल्य, स्नेह
के चिर असभ्य, सस्कृति-विहीन
छौने कुरूप
ला, भीड लगा जाती
क्षण-क्षण !
दुर्बोध प्रकृति !

[क्या होता

निश-दिन हाफ-हाफ कर
मत्र न करते इन्हे पूत,
कमनीय प्रथा करती
इनका सस्कार नही,
मेधा-तर्कम मे मानव के
होते न अगर षड्यत्र गहन ?
अभिनय का कवच
अभेद्य ढाल-सा सगोपन,
शैशव पर शिक्षण के बन्धन
होते न अगर
फिर क्या होता ?
भय-भ्रान्ति–प्रलोभन—दुर्निवार
शाशन—शोषण के सूत्रधार
होते न अगर ,
हो जाते जन-मानस सनयन,
कल्पित गाथाओ से वियुक्त
होता मानव का ज्ञान-कोष
फिर क्या होता !]

यामिनी विगत
शेषार्द्ध प्रहर
खग-कण्ठो मे
वन्दी कलरव
सुललित सपने
अलसाए मन
सोया अग जग
निस्तब्ध याभिनी
विस्मित क्षण
धारा से अडते हठी भवर
कूलो पर भकृत कीट-विवर
'चुप-चुप' कह जाती ठहर-ठहर
भीने अचल-सी व्यस्त लहर
जागृत था नही मलय
गति-बेसुध गन्ध पवन
केवल ध्वनि मे अभिव्यक्ति
पा रहा जग-जीवन
गरिमा की गठरी माथेतर
आलोक कही सोया
रूपो का सौदागर !

भूतल श्यामल—
हिचकी-सी लेता रुक रुककर
वेसुध तम अन्ध परावर्तन
जल-तरा पर ऐंठन रही उभर।
शीतल तुपार अभिपिक्त
अनावृत अम्बर तल
झपकी सी लेता
तारक दल।
दो धाराओ से परिरम्भित
सिकता-प्रखण्ड
करुणा-ममता से चुम्बित
ज्यो सुख का प्रसग
गङ्गा मरोरती बाहुवलय
ले तामस-घट
चुलबुला उर्मिया कहती
'तन्द्रिल पल, चल, हट।'

कितना कुरुप था हश्य
हविष्य अनिश्चय का—
मजूषा मे वन्दी शैशव।

अबला अधीर !
निश्चय का दोलक जूझ रहा
क्रमशः दोनों ध्रुव तोल रहे
लघुता पर केवल आकर्षण !
अन्त -स्तर पर था कोलाहल
वात्सल्य मांगता था
अपना अस्तित्व अचल
वह तोड़ रहा था ऐंठ-ऐंठ
बढ़ते जो बन्धन पुनः पुनः
सामाजिक स्तुति के,
यश-वैभव-आचारों के !

कहता वत्सल
'तू अपना धन !
अधिकारी, जिसके हेतु
उमड़ते पय से स्तन !'

सिहरा यौवन !
'सम्मान-प्रतिष्ठा के
सहस्र दल पर निश्चल
बैठा करता जीवन-मधुकर !'

"नयनो से चू अनुराग तरल
अह, अन्त मेधा का कण-कण
कम्पित करता रहता हृत्-तल
तू अपना धन ।
तेरे हित अधरो का चुम्बन ।"

"स्तुति के, प्रशस्ति के छन्द विरल
धो देते मन की व्यथा गहन
उद्वेग मात्र सताप विरल
विस्मृति पीती उद्वेग सकल
मन का शृ गार मनोरजन ।
मादक जीवन—
कतिपय कृत्यो का आवर्द्धन,
शृ गार, प्रसारण, अभिवर्द्धन
कुछ कर्मों का दृढ सगोपन ।
ऋजुता मानवता को दशन
मानवता तो आवरण सघन ।"

खग-शावक-सा
वात्सल्य पडा
थर-थर कम्पन

फुत्कार छोडती
यश-लिप्सा
फैलाए फन !

'उपहास !
जगत का अट्टहास !
जीवन भर को नत नयन,
कलङ्कित ज्वरित भाल !
प्रति स्वर सिहरन पर
कुण्ठा के विध्वस-ताल !
सासे बोझिल !
उद्भ्रान्त स्नायु !
जिससे निर्मित रे कोलाहल,
एकान्त देश मे भू-कम्पन,
उपहास–जगत का अट्टहास !'

'मेरी सासो के मृदु दुलार !
सृजना के पावन ज्योति-धार !
नारीत्व-विभा के पुरस्कार !'

'दुर्वह कलङ्क !'
'निश्छल दुलार !'
'अभिशाप तप्त !'
'मधु-स्निग्ध प्यार !'
'आचार ध्वस !'
'अस्तित्व -हार !'
'जीवन-गरिमा के निठुर राहु !'
'नारीत्व निशा–
तुम ध्रुव कुमार!'

पर दुर्निवार
होते दानवता के
आकस्मिक ही प्रहार !
टूटी कारा
धारा पर छप्-छप्
बहती मजूषा का स्वर !
वह किलक-ललक
शैशव का गूगा अपनापन
लघु लहरो का आलिङ्गन
चुम्बन परिरम्भन !

मजूषा के कम्पन से
प्रेरित उर्मि-वलय
वलयो मे पुन पुन कम्पन
धू-धू कर कूलो का उर-तल
कहते जाते प्रतिपल 'छल, छल ।'
बहता जाता आकार सघन
लो विरल
विरल
दृग से ओझल ।

—·०—

आवर्त

किन्तु दबोचा दिवास्वप्न ने
स्नायु स्फुरण को
फिर टकराने लगी प्रतिध्वनि
भय-आन्दोलित
वेग-जर्जरित
मानस के कम्पित पर्दे पर
जैसे जूझ रही हो कोई
चीत्कारो के चक्रव्यूह मे
पथ-भूली आत्मा अनन्त मे
टकराती फिरती हो विजडित
अन्धकार से ।

" महानील सघनित शून्य मे
विकल बिलखती मैं उपेक्षिता !
गहन अन्तहत महानील
जिसमे असख्य
ब्रह्माण्ड पडे है
कीट–विवर–से
कक्ष-वृन्त पर
घुमिल रवि-शशि
धूमकेतु-नक्षत्र-राशि-ग्रह
तारकमडल !
जहा पगु
सख्या-गरिमा की भ्रान्त इकाई
जहाँ न दिन है दृष्टि
रजनी — अपने तन पर
अपनी परछाईं
ज्योति - तिमिर के
छन्द - बन्ध मे
जिसकी परिभाषा न समाई
महानील यह !

" अगम शून्य का पहरा बैठा
निश्वासो पर, विश्वासो पर
स्वन-गुंजन पर
परिवर्तन पर
चेतन-जगम, तम-ज्योत्स्ना
आलोक-लोक, आशा-प्रत्याशा
कुहुक- हास, नैराश्य-लगन का
ताप-शीत का, गरल अमिय का
सबका ही परिणाम
शून्य यह।
महानील यह।

मानव की दैहिक आस्तित्व-जनित चेतनता
दुख-सुख की उर्मिल भावुकता
प्रति-क्रिया का प्रति-स्वरूप मन
क्षय-ग्रहीत इन्द्रिय-अनुशासन
— नित्य उठाकर —
अग-भग कल्पना,
वासना तप्त,
अधूरेपन की पीड़ा–त्रस्त साधना,

मावत्त

छिलकों के गुम्फन से केवल
निर्मित बीज-विहीन कामना
क्षीण अपाहिज तर्क-चेतना टकसाली
(जो पर्त-पर्त भी जमी व्यष्टि पर
रक्षण हित अस्तित्व-विभा के
किन्तु मात्र अवरोध
व्यष्टि के परिमार्जन मे)
वलयावृत सामर्थ्य भावना—
नही छू सकेंगे इसका स्वर
परम शून्य यह !
महानील यह !

अगम शून्य !
निर्विघ्न व्यस्तता !
यहा पहुचकर देख रहा मैं—
दीर्घ और लघु
ऊर्ध्व-अध , मृत-जीवित
काल-दिशा की सापेक्षिक सत्ताए
महासिन्धु तल पर
लघु-लघु बुल्लो सी धूमिल

गिरि के प्रसृत पृष्ठ पर
लघु काई-सी केवल
जूझ रही बस अनस्तित्व मे
विजडित अट्टहास जडता का
महानील यह ।

पीडाओ, अभिशापो का
ले बोझ उपेक्षित
विकल–बिलखती
भटक रही मैं ।
परवशता यह जीवन के
उपरान्त शेष है ।

अगम शून्य यह एक क्रिया है ।
इन्द्रिय जग की
राशि-राशि अनुभूति सिहरकर
करती खडा विचार मेरु ।
अनुभूति-लोक पर नाच रही
अनुशासन-हीन विचार-प्रक्रिया —

विवश, बुद्बुदी, अस्थिर, विन्दुर
प्रतिक्रिया है जो अनुभव की !
कर्मजाल अभिव्यक्ति उसी की
अगडाई यह अनस्तित्व की !
शक्ति यहा पर्याय शून्य का
दुर्हठ, निष्ठुर !
देख रहा मैं—
परम शून्य यह !
महानील यह !
सज्ञाहीन अतल मे
विलख रही अभागिनी
मेरी आत्मा !

*   *

काल-सिन्धु अमृत, मृत गर्जन !
हर-हर समा रहा है अविरल
मृदु भविष्य का अमृत निर्झर
वर्तमान के सूक्ष्म वलय से !

निमिष, प्रहर, दिन, रैन, वर्ष, युग,
कल्प, अब्दि शत, निस्वर, बिन्दुर !
शेष न कोई चिन्ह-फेन-स्वर !
अतल अतीत गहन यह दुस्तर
मूक, अन्ध, निर्बन्ध, अगोचर !

काल-सिन्धु के निष्ठुर धीवर !
काश, एक क्षण एक विन्दु वह
अनस्तित्व में दफना देते
कुण्ठित मेरा जन्म-लगन-क्षण
सिन्धु न छिछला एक विन्दु विन
किन्तु न अभिशापो मे होती
आत्मा मेरी दग्ध अभागिन
नही जलाती जननि
उमंडता पय स्तन का
निज वक्षस्थल मे !
फफस–फफस वात्सल्य न सडता !

मौन सृजन-ससृति के बुनकर !
तेरा अविरल सतत सृजन-स्वर

मावस

सासो के ताने बाने पर
काश, एक क्षण
कुण्ठित मेरा जन्म-लगन-क्षण
बन जाता विश्राम तुम्हारा
लेते पोछ भाल पर बिखरे
रम्य स्वेद-कण !
गाठ न होती,
घाव न होता
इस जीवन का
मसृण रेशमी पीताम्बर पर !

गति अनुरति है
समाधान की ओर विश्व को
सृजन, नियति, सहार, सृष्टि की !
पथ भूली प्रतिध्वनि अभागिनी
शैल शिलाओ से टकराकर
पवन-पेटियो, सघन घटियो मे बिछलाकर
कुछ पल टिककर मिट जाती है,
खो जाता है शून्य अतल मे
रोष-घोष गर्जित अम्बुधि का,

ज्वालमुखी का ताप
समय से सो जाता है,
तृण-तरु-पल्लव-वाल-डाल
गिरिवर-कानन मे
उलझ-उलझकर
कुछ क्षण मे
तूफानी झझा थम जाती है,
सघन तमिस्र नागिनी के
फन-कुण्डल के अनुवन्ध तोड
मूर्च्छना-दश से झेल खेलकर
सौम्य प्रभात निकल आता है !

किन्तु आह, भवितव्य !
कि मेरी आत्मा
जहा-जहा टकराई
उसका ही विकृत स्वर
फूटा वहा-वहा से !
नही पी सका कोई शङ्कर
विष-विडम्बना के आसव को
अभिशापो के सागर को

स्वीकार किया न किसी कुम्भज ने
किसी राम की पग-ध्वनियो ने
मुखरित नही किया यह निर्जन !

मेरा उपवन !

शिशिर-वात-गर्हित, जर्जर तन
नग्न दश-पीडित, चिर उन्मन
सस्य-स्पर्श-वञ्चित, खग-वर्जित
नीड रहित नित
डालो से चिन्ता नागिन के
अनगिन केंचुल
रहे झूलते, उलझे फर-फर
ग्लानि-निराशा के गिरगिट
चिपके चुपके नित रग बदलते
अन्ध-गहन अवकाश-कोटरो मे केवल
भटके उलूक, लटके बहु बादुर
सतत उपेक्षित
कुण्ठा, विश्वासो, भावो के !

सदा अकिञ्चन

मातृ स्नेह-वञ्चित यह जीवन !

शिशु विहग-सा
जो न अभी अखफोर हुआ हो
जिसे मृदुल पखो का
मधु वरदान नही
स्वीकार किया हो अभी नियति ने,
दबे अभी आलोक-भार से
पोन दृगचल
दृष्टि-सृष्टि से निरा अपरिचित ।
नीड-डाल हिलते ही लगता
करने चुलबुल
पातो के मर्मर मे सुनता
मा के पखो की मृदु फडकन ।
और अचानक
दिन ढलते ही
नीड डाल पर
आ बैठा हो, कोई आमिष-
-लोलुप अजगर
करने लगे नीड मे चुलबुल
खोले चचु उठाए ऊपर
आकुल शावक ।

मातृ खगी का समझ आगमन !
चिर निरीह चचल भोलापन !
आहट-अन्दाजे पर चलता जिसका जीवन !

* * *

कैसा यह व्यभिचार और परिभाषा कैसी !
पशु-पक्षी, तृण-तरु, दूर्वा
शैवाल जाल सब
करते अपने
प्रकृति धर्म का कहाँ विसर्जन ?
प्रकृति छोड कर
एक कीट भी कब जीता है ?
जिन्हे पतित की सज्ञा दी
मनु के बेटो ने
वे खर-श्वान नही व्यभिचारी
कहाँ प्रकृति के नय-विरुद्ध वे पग धरते हैं ?
कहा भोग पर वे बलि देते हैं ममता की ?
आह, निठुरता, रक्तपान ही
जिसके जीवन की सार्थकता

क्रूर सिंहनी भी
निजशावक पर
ममता की धार ढारती
जिस रसना से एक मात्र
लोहू-तृष्णा का प्राकृत नाता
चाट-चाट कर चिक्कन करती
निज शावक-तन की रोमाली।
अपने कुल का खून मनुज ही पी सकता है।
स्नेह-कोप लुट जाने पर भी जी सकता है
आह, मनुज ही।
गिरि-गह्वर मे, अतल सिन्धु मे,
कोटर, विवर और खण्डहर मे,
गर्त्त-पर्त्त मे,
कण-कण मे,
मातृत्व पल रहा।
तृण-पल्लव, गृह-नीड,
सरित-सर, सिन्धु-विजन
उपवन, गिरि, मारुत
मुखरित शैशव की क्रीडा से।

नही जानती –

स्नेह–देह का रोग नही—
शाश्वत सत्ता,
आसक्ति—प्रगति,
अनुराग-प्रकृति है ?
नही जानती–
देह-भाव को
स्नेह-प्रकृति पर विजय
वासना कहलाती है !
भूख वासना कहा– धर्म है–
साँस प्यास के श्री वैभव को
पाप मानकर
जीवन के इन्द्रिय डैनो को
खग-जीवन का शाप मानकर
गुहा-खोह मे, विजन-नगर में
घूम-घूम कर मुक्ति-हेतु ही
नोच रहे मनु के सपूत ये
व्यष्टि विहग के डैन, पख, पर,
तप-सयम की कलुष भ्रान्ति ने,
निगल लिया सम्पूर्ण व्यष्टि को

प्रकृति-विजय के ये अभिलाषी
निज प्रवृत्ति को
प्रकृति-वेग को
बाध रहे हैं,
मानव को
असमर्थ, अपाहिज, पगु
और निर्वीर्य बनाने को
निजता को ही कुठार से
काट-काट
नैसर्गिक सयम साध रहे —
दुर्भाग्य मनुज का ।
क्रान्ति-ज्योति—
परिमार्जन जो करती समष्टि का,
सरक्षिका विशिष्ट-व्यष्टि की
खडी हुई अभिशप्त
विश्व-वन के कोने मे,
परम्परा का मोह
मनुज के पौरुष को
निश्चिन्त पी रहा ।

प्रगति और परिवर्तन
जीवन के उपक्रम मे
महा पाप है ।
करवट नही बदलती ससृति
सड-सडकर एकाङ्ग बनेगी;
घिस-घिस कर आरसो शौर्य की
अन्धी होगो ।

— ० —

उपालम्भ

आह रे !

यह आचरण !
यह आवरण की जय-ध्वजा !
यह आभरण की दासता !
जीवन जलाकर
देह-पोषी साधना !
इस खोखले आदर्श की
मनुजत्व पर
मानव-प्रकृति पर
स्नेह पर—अन्धी विजय !
षडयन्त्र अपने खून से !
रुपहला यौवन वरे,
धारण करें तन-मन,

प्रकृति पाले, सभाले कोख
नव चेतन सृजन-धन को,
विसर्जन किन्तु कर डाले
जननि नवजात शैशव का !
जननि डस ले स्वय
वरदान-सा अहिवात-धन अपना !
आह !
यश-लिप्सा अपरिमित !
आह, री मर्याद !
यौवन की प्रकृति को जो
बनादे पाप का पाषाण
छूकर शाप की निष्ठुर-
कलङ्कित उगलियो से !
बस भिखारिन-सी
फिरे दर-दर जवानी !
देह-सीमा मे घुटे
अविजेय यौवन !
प्राण के प्रति द्वार पर
कुण्ठा बसे,
कुण्ठित बने पुरुषार्थ !

लुण्ठित मातृ पद !

गर्हित प्रकृति !

संसृति अज्ञानी पूर्वजों की

भूल का परिणाम भोगे !

बन्ध पर बन्धन बढ़ें दिन-दिन

किसी दिन शेष होगी रज्जु केवल,

बुद्धि के, संयम-नियम,

दुहरी प्रथा, संस्कार के

डोरे रहेंगे !

व्यष्टि का, वरदान का,

अधिकार का यौवन

छिपेगा बुद्धि-गह्वर में

कलुष उपहास के भय से !

आह री,

विभ्रान्त मर्यादा !

किसी दिन

शेष-धूमिल,

क्षीण-किञ्चित

न्याय औ पुरुषार्थ अपना

बेच डालेगा जगत
बस कङ्कडो के भाव ।
व्यक्ति होगा दास मात्र समष्टि का
अपना चिरन्तन
ओज खोकर,
तेज खोकर,
शौर्य खो ।
बस पेट भरना
ज्ञान, श्रद्धा, शौर्य का
कौशल बनेगा

आह, यौवन ।
आह, ससृति के सृजन-वर्द्धन
रहेगा तू उपेक्षित
चिर तिरस्कृत,
चिर अकिञ्चन
तर्क के पाषाण पर
घिस जायगा तू ।
भूख पर, अज्ञान पर,
अन्याय से उभरे हुए

ये दुर्ग संयम के
बनेंगे पीठ के कूबड़,
वहन करती रहेगी
युग-युगों तक
शाप-सी संसृति !

जाने किस दुर्बोध मनुज ने
यौवन की अनिवार्य
भूख को पाप कह दिया !
स्नेह और वात्सल्य प्रसविनी
जीवन की आलोक-शिखा को
आह, कह दिया अन्ध-वासना !
किसने !
किस क्षण !
जाल बुन दिया
नीति-न्याय के ताने-बाने से
उलझाकर मन के डोरे !
फंसी रहेगी जाने कब तक
मनुज-चेतना !
यौवन को, वात्सल्य, स्नेह

मातृत्व, लगन, अनुराग-भाव को
कुहठ लौह के विषम
शिकजो मे कस डाला
लिखा रह गया
मानवता के भाव-भाल पर
'स्नेहाञ्चल यह नही,
वासना की जाली है!'

और आज तो जीवन के
आलोक-द्वार पर
परजीवी मकडे समष्टि के
स्वर्ग-नरक के कल्पित-कच्चे
धागे मुख से उगल-उगलकर
बुनते हैं जाले अति दुर्गम
— उन्हे फासने को, ग्रसने को
परम्परा से, शास्त्र-नियम से
मोह-त्रस्त जो,
तर्क-चेतना जिनकी स्तम्भित।
और उसी दुर्दान्त अहेरी
के तीरो का
मेरी आत्मा बनी निशाना!

ससृति के निर्मल पय-पूरित
मलय-विचुम्बित
ज्योति-सवरित
उर्मिल वलयित
मृदु स्वर-मुखरित
सरोवरो मे
गलित पक पर जीने वाले
घुर्मिल प्रज्ञा के अभिमानी
ये वराह के पूत मदाकुल
रौंद रहे सरसिज-वन निर्भय,
सडा-गला कीचड उछालते
क्रीडा-रत हैं
लिए बहाना वसुन्धरा के
नव्य उदय का ।
मृग-तृष्णा की छद्म वेशिनी
डायन देती
मानवता-ममता की बलि
कल्मष छलना पर
सामाजिकता के चरणो मे
लुण्ठित हैं छौनो के शिर से

शीश व्यष्टि के !

यह समष्टि का कलुषित अचल !
देह, स्नेह, मातृत्व-विभा का
इतना सस्ता-सहज विभाजन !
मानव का भवितव्य बन गया
गर्भ-विभाजन !
श्रेणी-बद्ध किया गर्भों को
सम्प्रदाय, कुल, जाति-वर्ण ने,
देश-भेष ने !
एक गर्भ से आने वाला
भोग करेगा वसुन्धरा का
श्री, वैभव, सम्मान, सुयश
अर्चन, पूजन का भागी होगा,
और दूसरे से आना अभिशाप !

और दूसरे से आना अभिशाप
उपेक्षा, घृणा, क्रूर उपहास,
अनय की असि पर
उसको चलना होगा !

ससृति के कमनीय स्रोत को

वेणी-बन्धन !

तिरस्कार नैसर्गिकता का,

प्रकृति-गुणो का !

मानवता का गर्भ-विभाजन !

यह धरती !

अवतार जहा छिपकर आते है—

यह धरती !

भगवान जहाँ बधकर आते हैं—

यह धरती !

इन्सान जहा बटकर आते हैं—

देह-गेह, धन-धर्म, जाति औ

सम्प्रदाय, सीमा, प्रदेश के

कुलिश नियम मे ?

* * *

नही जानती नारी का पर्याय जननि है ?

प्रकृति ने दिया कोख उसे ही

अमित स्नेह
वात्सल्य अपरिमित, तोष
ममत्व-सुधा कल निर्जर,
त्याग अतुल, करुणा-पय की
अति मृदुल धरोहर
श्रद्धा और समर्पण भावो का
मधुमय उज्ज्वलतम आसव
भर-भर कर विश्वास-स्वर्ण के
ज्योति कलश मे
दिया प्रकृति ने नारी को ही।
सृष्टि प्रेरणा के अकुर
उसके मन-वाणी-तन से ही उगते हैं।
उसके अञ्चल मे दीपक है
चेतनता का
ससृति, सृजन और पालन के हेतु
प्रकृति की एक मात्र
विश्वासिन है वह।

नही जानती—
नारी ही सम्पूरणता है,

पूरक पुरुष
शेष सब साधन
उसी विभा का,
निहित उसी के अन्तराल मे
प्रगति-चेतना ?

नही जानती—
नारी का हुङ्कार—क्रान्ति,
पावन दुलार का
प्रति स्पन्दन—सवेदन,
औ प्रति स्वर—लोरी है ?

नही जानती तो अच्छा था—
उपहासो के भय से होता
नही विसर्जन मातृ-प्रकृति का,
जननी का गौरव मय पद
अभिशाप न होता,
शब्दो का व्यभिचार
लीलता नही प्रकृति को,
अपराधो का स्रोत

अमित स्नेह
वात्सल्य अपरिमित, तोष
ममत्व-सुधा कल निर्झर,
त्याग अतुल, करुणा-पय की
अति मृदुल धरोहर
श्रद्धा और समर्पण भावो का
मधुमय उज्ज्वलतम आसव
भर-भर कर विश्वास-स्वर्ण के
ज्योति कलश मे
दिया प्रकृति ने नारी को ही।
सृष्टि प्रेरणा के अकुर
उसके मन-वाणी-तन से ही उगते है।
उसके अञ्चल मे दीपक है
चेतनता का
ससृति, सृजन और पालन के हेतु
प्रकृति की एक मात्र
विश्वासिन है वह।

नही जानती—
नारी ही सम्पूरणता है,

पूरक पुरुष
शेष सब साधन
उसी विभा का,
निहित उसी के अन्तरान मे
प्रगति-चेतना ?

नही जानती—
नारी का हुङ्कार—क्रान्ति,
पावन दुलार का
प्रति स्पन्दन—सवेदन,
औ प्रति स्वर—लोरी है ?

नही जानती तो अच्छा था—
उपहासो के भय से होता
नहीं विसर्जन मातृ—प्रकृति का,
जननी का गौरव मय पद
अभिशाप न होता,
शब्दो का व्यभिचार
लीलता नहीं प्रकृति को,
अपराधो का स्रोत

न माना जाता यौवन,
ये समष्टि के मीन महोदर
निगल न जाते कभी
व्यष्टि के लघु मीनो को,
ज्ञान-तर्क, यश-लिप्सा के
विन्दुर आसव से
नही तिरस्कृत माना जाता
सिन्धु स्नेह का !

नही जानती—
व्यष्टि प्रकृति है
जो समष्टि की
मृग-मरीचिका मे फसकर
खो चुकी आज सत्ता अपनी,
अपना स्वरूप भी !

नही जानती तो अच्छा था—
अग-उभारो मे
नारीत्व न सीमित होता ,
रूप, स्नेह, स्वर, यौवन के

बाजार न होते
अस्थि-मास के साथ-साथ
नारीत्व न माना जाता
किसलित, विकसित, विगलित ,
चर्म-खोल ही रूप-राशि को
सीमित, वन्दी नही बनाता
बिना हृदय के, बिना प्रकृति के,
जड आखो से
नही माप होती सुषमा की ।
हाव-भाव, भगी-कटाक्ष का
होता नही प्रशिक्षण-शिक्षण ।

— ० —

दिवा स्वप्न

गहन तमस के महामेघ-से
ग्लानि-क्षोभ-विद्रोह घहरते
अन्तर्मन पर, स्तमित घुटन पर
एक चीख चपला-सी कौंधी
और प्रति-ध्वनिया
नूतन लय, नूतन वय की
करने लगी प्रसव
मर्माहत दिवा स्वप्न की—
"यावज्जीवन—
साधन करता रहा अहर्निश
द्वापर की आदर्श ज्योति का
शील, शौर्य पुरुषार्थ विभा को
रहा माजता

छल, आपद, अभिशाप-ताप
झेले हँस-हँसकर ।

किन्तु अभाव-अधूरेपन की
व्यष्टि-जनित दुर्बल अभिलाषा—
क्षुधा स्नेह, वत्सल दुलार की
एकाकीपन मे भर जाती जर्जर दशन
सदा खडी हो जाती सम्मुख
नतमस्तक
तीखी पीडा-सी ।
बार-बार मन का क्रन्दन-कोलाहल
झन्-झन् स्नायु-स्नायु पर
छा जाता था ।
उस नगी आरक्त व्यथा के
स्पर्श मात्र से
काल-प्रवाह थहर जाता था,
निमिष-गुच्छ विच्छिन्न बिखरते
एक-एक पल से
पडता था मुझे जूझना ।

कितनी वार सुबुक आया था
एकाकीपन ,
कितनी वार बाजुओ को
धो लिया अश्रु से,
सब कुछ—केवल कानन-क्रन्दन !
बार-बार कहता मन
कौन कहेगा, "कर्ण, देखकर तुमको
छाती हो जाती है दूनी ।" ?
कौन कहेगा, "मेरे लाल,
जियो युग-युग तुम !" ?
वह अभाव देता झकोर फिर
"किसे शौर्य अपरिम वैभव की
भेट चढाऊ ?"

चीख उठा करता कोमल स्वर—
"आह ! कर्ण, निरपेक्ष स्नेह,
निस्वार्थ भाव, नि स्पृह निष्ठा से
कौन सम्हालेगा यह वैभव ?
औ समष्टिगत प्रभुता के
दुर्वह तनाव कर शिथिल

बैठ जाओगे किसके
अचल की मादक छाया मे
भोले बनकर ?
चिर अबोध ही बने रहोगे
किन आखो मे ?"

विश्लथ कर शिंजिनी धनुष की
लेता था विश्राम कभी जब
वही टीस भर जाती तन-मन—
कौशल्या-सी किसकी छाती
भर आएगी—वत्सल नयनो से
निहारकर बार-बार
आश्चर्य करेगी—"सच,
मेरे सुकुमार कर्ण मे
पौरुष की यह प्रखर ज्योति है !
सच, मेरे सुकुमार कर्ण की
यश-प्रशस्ति से भरी दिशाए !"
कई बार एकान्त गुहा मे
भटक गया अनुमान—
"कि उस अन्त सलिला

उस पीडा को ढकने के मिस ही
नही कर्ण, क्या तुमने यह
पट्टी बाधी व्यक्तित्व-मेरु की ?
तेरा सत्य करुण क्या नही
उसी के रस की अभिव्यक्ति है ?
शप्त प्राणियो को दे सबल
जूझ रहा क्या नही भगीरथ-सा
निज कुल के ही उद्भव मे ?"

और सदा ही इन घडियो मे
स्वत्व हो गया है नतमस्तक,
सिमट गई चेतना तरल
छल-छल नयनो मे,
भार-विकल मन अर्द्ध-विमूर्च्छित
चेष्टा-विगत बना अबोध-सा।
उस बालक-सा
ठमक जाय जो रूठ
एक मनवार के लिए
पल भर उसी पुरातन-जर्जर
पीपल के नीचे

जिसकी डालो पर
उसकी त्रस्त कल्पना
गाथाओ से, चर्चाओ से
खीच-खीचकर
भूत, प्रेत, वैताल, जिनो के
क्रूर, भयावह, चित्र अनगिनत
बाध चुकी हो,
पात-पात के पीछे जिसने
मान लिया मृत चक्षु झाकते ,
और स्मरण स्पन्दित होते ही
आतङ्कित वह पुन दौडकर
छिप जाता फुफती मे उसकी
जिससे पहले रूठ गया था ,
मैं भी हठकर
पुन सभलकर
चेष्टाओ को तान-तानकर
सिमट गया हू कर्म-जाल मे !

कभी रजनि मे

चिपकाए मेरे अनुजो को
वक्षस्थल से,
लोरी गाते,
मन बहलाते,
रुदन सुलाते,
अग-अग पर
स्नेहाकुल चुम्बन बरसाते—
नही झकोरा अनाहूत
स्मृति की झझा ने
साध-बेलि को—
सुखद कल्पनाओ के
अनगिन ततु बढाती
बढती नित आलोकमुखी जो ?

नही चित्र उभरा कुरूप वह
मन के आन्दोलित पर्दे पर
अन्ध निशा का मृत सूनापन
स्वच्छ हिमानी की कन्या के
चचल जल पर

बहती मजूषा को चचल
लहर-लहर वलयित बाहो से
तल पर पहुचाने को तत्पर,
मीन, मगर, कच्छप अकुलाए,
मुँह बाए नीचे,
ऊपर तमसा का अचल ?

मजूषा मे शैशव क्रन्दन ।
सच कहना तुम —
कौंधी होगी चपला ।
थहराया होगा
वत्सल अन्तस्तल ।

वह घुटन ।
यहाँ, स्नेहिल चुम्बन ।

मन की अन्ध गुहा मे
ढकने से अनुताप नही मरता है
ज्वालमुखी-सा — वर्तमान के
व्यस्त क्षणो की चट्टानो से

अर्द्ध विमूर्च्छित सोया रहता !
मन का पाप नही मरता है ।
लेता जब अगडाई
तन के रग-रग मे
देता उछाल
लक-लक भय-कम्पन का लावा
बस तड-तड टूट बिखर जाती
चट्टाने तत्क्षण !
प्रायश्चित ?
वह दुर्बल मन का सम्मोहन है !

*   *

कभी रजनि मे
चिपकाए मेरे अनुजो को
वक्षस्थल से
लोरी गाते
मन बहलाते
रुदन सुलाते —

किसी कथा मे—वसवारो मे
पास-पास दो आल्हर कोपल
सिसके नही ?
कुहुक न सुन पडी ?
ध्वनित हुई क्या नही
कभी अस्फुट, तुतली
शैशव की वाणी ?

एक कहानी—
'कोपल नही,
उगे मिलजुल कर
कोई राजकुमार-कुमारी
रवि-शशि-सी जिनकी आभा से
रूप-राशि से प्रमुदित, मुखरित,
किलकित रहता
राजभवन का कोना-कोना—
जिनकी शैशव-क्रीडाओ से !
किन्तु एक ईर्ष्या की लतिका
राजभवन के वैभव-रस से
पलने वाली

मातृ-हृदय वचिता,
बाभ, सवेदन-हीना
रूप-रश्मियो से जलती थी ।
'एक दिवस
निज स्तन-स्तवको के
कोर लेपकर तरल गरल से
हँसकर सफल स्नेह-अभिनय से
उन्हे बुलाया
गरल चटाकर मार दिया
सौतेली मा ने ।'

[हाय ! मनुज को ही अभिशाप मिला
ससृति मे अभिनय की
इस पूत कला का ।
आडम्बर अब अभिनय का पर्याय बना है !
मिथ्या आज कला के परिधानो मे वेष्टित ।
अभिनय पर ही खडा हो रहा
राजनीति का कान्त कलेवर !
बढा मोह यदि
मानवीय पौरुष का साधक

बन जाएगा सावन
मिथ्या की क्रीडा का ।
आदर्शों के तीर्थ निगल
जाएगा लोलुप
घातक अजगर ।
वचन बन जायेगा कौशल]

कथा कण्ठ मे उलझ गई
क्या नही अचानक ?
बदल-बदल करवटे
कटी क्या नही यामिनी ?
तेरा जननि-भाव झुलसा
क्या नही रात भर ?
फिर प्रभात मे
बसवारी मे
हुआ मुखर निश्वास मलय का
बसी बोली ।
नही हुआ सभ्रम
अधीर शैशव-क्रन्दन का ?

एकाकी-अभिशप्त
किसी कोपल की कुहुकन
नही छा गई
अरुण गगन-तल ?
थहरा, शिथिल हुआ क्या नही
पवन स्वेदाकुल ?
व्रण चरणो मे, वाण हृदय मे
माथे पर युग हस्त, सिसकता
गिरा नही क्या
कुन्ज-भवन मे मलय
थहर कर ?
स्पन्दित दल-किसलय
शोकाकुल नही हुए
नतमस्तक तत्क्षण ?
और देखकर सरक गया
क्या नही हृदय छाती से नीचे
रक्त और रस-धर्म छोडकर ?
ढलता स्पन्दन वुझते दीपक
की वाती-सा नही झर गया ?

एक कसक का शव
सहस्र गीतो के स्वर से
नही उठा है,
कलिका विकृत
कुम्हलाई यदि
एक पखरी,
छलना एक बना देती
अन्तस् को बजर,
एक क्षुद्र सन्देह
प्रगति के लिए वारुणी।
कर्मजाल केंचली-विसर्जन
कब करता है ?
पश्चाताप चिपक जाता
स्मृति के मूल्यो पर।

* * *

कभी रजनि मे
चिपकाए मेरे अनुजो को
वक्षस्थल से

लोरी गाते,
मन बहलाते,
रुदन सुलाते—
किसी कथा मे
नही बधिक के शर से आहत
कर से भूली
विवश अश्रुनैना मैना ने
निज सीने का व्रण दिखलाकर
चरवाहे को भाई कह
सकेत किया क्या ?
गगा पार करील-कुञ्ज का
नीड बताया
जहा कुहरते लघु-लघु शावक
अस्फुट-पखल,
टपक-टपक गिरता दृग का जल
भू पर बिखरे सुलघु सघन
च्युत दल-पत्रो पर।
जननि-विहीन मलिन
अकुलाए क्षुधा तृषा से
उझक-उझक कर

सुलघु नीड से झाक रहे जो
आशा लेकर —
मौन सितारो की खूटी से
अस्त-व्यस्त, अटके-लटके
दुर्वह तामस के महाजाल को
सर-सर चीर रहे दो डैने
मातृ-हृदय दुखिया मैना के
आते होगे !

नही शोक-सघनित यामिनी
एक चित्र वीभत्स भर गई ?
नही भावना उठी—
एक कुविचारी वायस
रवि-किरणो के साथ-साथ
आ बैठा हो सतप्त नीड पर
स्थिर-निर्भय-सा
फाढ-फाड खा रहा निठुर
कोमल, रोमिल, भोले छौनो को ?
कहा मातृ-उर
जो प्रहार-प्रतिकार कर सके

निज प्राणो का दाव लगाकर ?
श्रद्धा, भक्ति, स्नेह, श्री हत
बजर जीवन मे
नही भाव उठते प्रलयङ्कर ।
भाव । —
सृष्टि की स्तुत्य सम्पदा ।
गहराई पर ज्वार
जागता है वारिधि का ;
रक्षक का प्रतिकार
प्रहर्त्ता के प्रहार से
होता दुस्तर ।
एक प्रकृति है,
अत शक्ति है,
कृत्रिमता है अपर
मात्र थोथी विडम्बना ।

*   *

एक दिवस

गोधूलि गगन-तल,
रवि समेट रश्मिल रोमाली
अस्ताचल पर अपलक माप रहा था
क्षणिक परास्त सतुलन ।
छायाए वामन के डग-सी
क्षण-क्षण विस्तृत ।
नीड-लोक मृदु मुखर,
चपल द्रुत डैनो से
आकाश भरा ।
जल-सीकर से था भरा भाल
विश्रान्ति शिथिल
थी प्रसव-वेदना से उन्मन—
निस्तब्धि-निशा का जन्म-लगन ।

वात्सल्य-भार से दबा हुआ
मासल शरीर
पय-चाप से खिचा विकसित थन,
वत्सल-सुधि मथर गति को

अविरल तान रही,
हुकार, रभाती बढी आ रही
पुर-उन्मुख एकान्त भाव
वह धेनु—
देखकर अनुगत हुआ
कुतूहल प्रेरित,
साध—देख लू
सौम्य, स्वस्थ, सौभाग्यशील
नव वत्स
कि जिसके हित
पथ मे भी स्रवित
टपकता चलता पय ।

अवलोक वहा का दृश्य
सिहर आया तन-मन
मृत चर्म वत्स का
भूस-फूस से भरा लटकता छज्जे से !
ग्वाले ने उसे उतारा
फेंक दिया सम्मुख
हुकार, अविचलित मातृ-भाव से,

लाड-प्यार से
चाट-चाट चिक्कन करने वह लगी
शेष सूखी चमडी,
रूखी रोमाली,
चक्षु-हीन आनन कठोर !
जीवन-स्पन्दन-आकार-हीन
विकसित न कभी होता वह तन !
चेतन की सारी तन्मयता,
करुणा, ममता, वात्सल्य भाव
से उमग-हूक वह चाट रही
मुर्दा-शरीर—
उसके नयनो मे वत्स
जिसे उसने जन्मा !
भूला भटका यदि काग
आ गया छज्जे पर
वात्सल्य बन गया प्रलयङ्कर
वह लगी तोडने रज्जु-पाश,
उसके जीवित रहते कैसे
वायस रख दे निज घृणित चञ्चु,
डाले अपनी अपवित्र दृष्टि !

सुकुमार लाडला वत्स,
और वह जननी है!
वह वत्स कि जिसके हित
उमडा रहता है थन!
बहलाकर जिससे ग्वाल
काढता दुग्ध अमृतमय
फेनोज्ज्वल!

क्षण स्तम्भित!
हसा—विवेक-शून्य भावुकता पर!
फिर छलक पडा उर
छल-छल भर आए लोचन,
सिहरी करुणा, रोमाच हुआ—
वात्सल्य—गहन!
चिर धन्य-धन्य रे जननीपन!
तब भी श्रवणो मे
ध्वनित हुआ था प्रश्न गहन—
सच कहना, कर्ण,
तुम्हारा व्याकुल अन्तस्तल
क्या नही पूछता है तुमसे

होगी कोई मा .   ?"

*   *   *

झन्-झन्-सा केवल शून्य ध्वान्त !
प्रति-ध्वनि विलुप्त !
जैसे वह शप्त अभागिन आत्मा
एक चीख मे पिघल-तरल
ढल आई हो
कुन्ती के नयनो मे निस्वर !
टप्-टप् झर आए लोचन-कण
कुछ विन्दु उलझ
अभिसिंचन करने लगे
झुर्रियो का रिस-रिस !

— ० —

निवृत्ति

अवसान दिन का
शेष था खण्डित प्रहर।
विध्वस्त मेघो के पहनकर चीथडे
खोई पडी उन्मन प्रतीची
क्षितिज के आधार,
त्वरित कर से रश्मिमाला
काढने मे व्यस्त—
वेणी के, वसन के ज्योतिमय शृ गार।
ध्वस्त, हत, निस्पन्द
मेघी खण्डहरो के पार—
अशुमाली पर-कटे खग के सदृश
था ढल रहा निश्चेष्ट-सा।
निस्तेज नीलाकाश
छा रहा निष्प्राण-सा

पीताभ, ढीले गात !
व्यथा-बोझिल जाह्नवी
सिमटी, शिथिल
अविरल घिसटती जा रही
पलकें झुकाए म्लान,
छाती में छिपाए वेदना का ज्वार,
आंचर में समेटे नियति का आक्रोश,
लहरों में अकिंचनता-ध्वनित आवेश !
अवशिष्ट बिखरे
रेत-निर्मित वेदियों के पास—
—धान, तिल, पल्लव-स्त्रुवा, पय-फेन
मृत्ति-पात्रों में गलाए
चावलों के पिण्ड !
दूर कुछ—
विह्वल, हहरते, ताकते
उच्छिष्ट-लोलुप काग !

जाह्नवी-तट के पड़ोसी
शालिवन के पार्श्व से
उभरा समुन्नत राजपथ !

ज्ञात करके पथ-तिलाञ्जलि दान का सोपान
अब समापन के
शिखर तक आ गया,
हो चुका सम्पन्न उपसहार,
गति-सधे, सकेतवाही
वाजियो को स्यन्दनो मे नाध
गृह-गमन का कर रहे उपक्रम
निरत आदेशवाही सूत ।

क्लान्त जन
जो पिण्ड-अर्पण हेतु आए
जाह्नवी के तट
प्रथम रवि-रश्मियो के साथ,
अब गए थे टूट-से —
निष्ठुर उदासी के
प्रहारो से पिटे थे स्नायु,
चित्त पर था भार बनकर
ढह गया पुरुषार्थ,
ढल चुका उत्साह
घुघुआई उमगो की उठाए लाश,

सांत्वना गूंगी खडी अनिमेष,
हिचकी ले रहा असमर्थ बौना ज्ञान,
भूमि-लूण्ठित तर्क,
परवश कर्म,
बेसुध मान,
कल्पना-आशा चुकी थी हार—
स्वत्व की निजता बनी
श्री-हीन कारागार!

वेदनाओं का तरल
ढोकर दृगों से ढार
बार-बार सभल-सभल उठ
खा रही करुणा अधीर पछार!
ध्वान्त-सा निश्चय झुकाए दृष्टि!
वीतराग हुआ मनोरथ!
ज्योति-हीन विवर्ण आंखें
मल रही गन्तव्य की आकृष्टि—
चपल प्रक्षेपास्त्र उसका
अचल जडता से ग्रसित!
वरणीय क्या, परिहार्य क्या!

उपहास-बेडी वन्दिनो
ममता खडी आक्रान्त-
सहती निसर्ग-विडम्बना के
क्रूर चरणो के क्रमिक आघात ।
चेतना की सब क्रियाए बाध
शून्य मे घहरा रहा था
ऊर्ध्वगामी मानसिक उत्ताप ।

कूल से तट तक प्रसृत
पाषाण-कायी घाट,
प्रस्तरी सयोग-से
उभरे हुए सोपान !
क्लान्त दैहिक स्थूलता को
नर रहे थे खीच,
अबलाए मसृणता का बटोरे भार
मापती मथर, थहरती बढ रही
सोपान प्रति सोपान
तट की ओर ।
अवयवी एकाग्रता का ध्यान
था समाहित,

झूलते थे बाहु स्कन्ध विशाल से
सन्धियो से मौन चेष्टा कर गई ज्यो कूच
शीश नत,
आनत वदन,
नत ग्रीव,
ध्यान विश्लथ वसन, वल्कल, चीर ।

पर कुन्ती—
स्फीत निश्चय से सधे
अपलक नयन, भ्रू-चाप,
दृष्टि से उत्कीर्ण
दृढता का प्रखर आलोक,
अधरो के पटल निस्पन्द,
आनन पर समर्पित
तेज-राशि-प्रकाश,
ग्रीवा सन्तुलन की माप,
मौन प्रतिमा-सी शिला पर शान्त ।

मधुर वाणी का मुखर-
सयत-प्रखर विक्षेप लघु—

— "दो क्षण रुको !"

थहरा हुआ, चलता हुआ समुदाय
थम गया,
ज्यो क्रूर झझावात का आभास
रोकता कानन-द्रुमो का डोलना !

तूल-सी स्मृतिया समेटें, दूर
उड रहा था जो गगन को आकता
उतर आया पुन. भूपर
मानसिक उत्ताप—
वेग-वैभव का गरुड गतिमान
सतुलित परिवेश डैनो का किए
ज्यो उतरता द्रुत
शिखर के पृष्ठ पर !

धीर गति — आगे युधिष्ठिर,
पार्श्व अबलाए सहमती,
म्लान, अनुगत भाव-भीगा
शिथिल नर-समुदाय—
— शील के प्रतिरूप

करुणा के पवन से डोलते,
नेत्र अपलक, भ्रू खिचे,
सवेदना-प्रेरित सहज
उभरी श्रवण की चेतना,
नित प्रस्फुरित
त्वक्-जाल,
द्रुत आदेश-पालन के लिए।
— "मातु, क्या आदेश ?"

करुणा से तरल उद्वेग-पीडा बाध,
मापकर वत्सल हृदय का ज्वार,
प्रश्न कुछ, सकेत कुछ—
अविलम्ब कुन्ती ने कहा—
"पा गए सारे पितर निज भाग ?
ध्यान का अविलेय अश निथार
जाच लो निक्षिप्त-शेष पदार्थ
भूल कुछ ऐसी न हो
निज पिण्ड बिन कोई पितर
रह जाय शापित प्रेत।"

"हो जननि, आश्वस्त, आशावान!
छानकर स्मृति के सकल सोपान
देख आए हम—
कही काई नही है शेष
भूल-विस्मृति की, मृषा-सन्देह की!
भूल, विस्मृति या मृषा क्यो?
और यह अवसर न बौद्धिक जाल का!
राजनैतिक छल-मृथा से दूर—
जीवन का प्रहर यह!
उस पतन तक, और मानव के चरण!
—ले चुरा कोई स्वजन का पिण्ड ही!"

"स्वजन! ..... ."

खुरच तडप उठा ज्यो मर्म-तल
धमनियो मे शीत पीडा जम गई
एक झटका-सा लगा
आशङ्किता दृष्टि आई
नील सीमा से भटक,
भय हुआ—फिर वह प्रतिध्वनि कौधती
दृष्टि के सीमा-वलय पर आ गई

अर्द्ध संयत कर पुन निज चेतना
पाण्डवो को पास ले सकेत से
गाठ युग-युग से सजोये दर्द की
खोलने कम्पित करो से वह लगी——

——"आह ! पाण्डु के पाच पूत
पौरुष के मानी,
अचल हिमानी
शौर्य-विभव-सम्मान-सुयश के,
भीमार्जुन, सहदेव, नकुल,
स्थिर-प्रज्ञ युधिष्ठर !
प्रबल बाहु-वलयो मे कस
तुम हिला सकोगे गिरि-शृ गो को,
तोड सकोगे अचल प्रतिष्ठित
मेरुदण्ड दुर्द्धष मेरु के,
तेरे चरण-चाप-इगित पर
वारिधि वारि उगल सकता है,
चरणो से भूगोल घरौंदा
समतल कर सकते क्षण भर मे,

द्वापर का इतिहास
तुम्हारे निश्चय का अनुगमन करेगा !

"किन्तु आह ! तुम भी कच्चे हो,
बच्चे निरे अबोध, अपरिचित
जीवन-तल मे पैठ कुण्डलित
विश्व-वेदना की नागिन से !
कुन्ती के अन्तस्-गह्वर मे
दबे पडे अनगिन जीवित शव
ममता के, नारीत्व, स्नेह
वात्सल्य-भाव के ...

"मातृ रूप यह नही
मात्र जननी का अभिनय !
पूजन की प्यासी नारी का
रूप-प्रवचन ! .
कुन्ती !—सत्ता कहा ?
— मूक अनुकृति केवल
दुर्दम छलना की !
निज वास्तव के रजत-स्वच्छ

दर्पण का तल उसने कुरेदकर
बना लिया खुरदरा-विषम
जिसमे न उतर पाएगी
नारी-प्रकृति-धर्म की निर्मल छाया,
प्रतिबिम्बन का गुण ही उसने
नियमो की रेती से
रगड-रगड घिस डाला !

"यह अन्धा, व्यक्तित्व-हीन,
नारी-जीवन का मिथ्या दर्पण !
दर्पण क्या—जो नेत्र मूद ले ?
स्राव बाध ले तरल स्नेह का
वह नारी क्या ?

"आह ! युधिष्ठिर,
नेत्र मनुज के अन्तर्मुख हैं,
बार-बार पीछे ही मुडकर
ये टटोलते हैं अतीत को,
मन के पीछे से आकर कोई
झकझोर जगा जाता है बार-बार

चिन्तन की दीर्घ-वलय हिलकोरें
मन, प्रज्ञा, चिन्तन-धारा के
पीछे भी बैठा है कोई,
जो स्वीकार नही करता
व्यभिचार प्रकृति पर !
आह, केन्द्र वह ! नाच रहे
इन्द्रिय-दुख-सुख
अति क्षीण परिधि पर
चचल मन की ! —
ध्रुव-निश्चल वह !
मन का अहकार मन को
बहलावा दे, तुम
प्रायश्चित इसको कहते हो,
कहते हो तुम ग्लानि
स्वार्थ पर बलि होती जब अभिलाषा की !

. . . . . .

"उस दिन मैंने सुना—कर्ण को
छल-बल से मारा अर्जुन ने
जयी हुआ कौन्तेय और राधेय पराजित !

दीप-मालिका से सुरभित
आलोकित अपना युद्ध-शिविर था,
पर कुन्ती के हृदय-गगन का
ज्योतिर्मय आलोक-पिण्ड
था ढला सदा को।
अस्त हो गया शौर्य-लोक का
ग्रह उज्ज्वलतम
बिना कक्ष जो जीवन के
आदर्शों की करता परिक्रमा।
ब्रह्म अण्ड ही गया निगल
उसकी सत्ता को।

"आर्य वंश-उपवन से जिसका
उच्छेदन कर
तिरस्कार की निठुर धार से
फेंक दिया था अशुभ-अशोभन
जान-समझकर माली ने ही,
उसी पौध ने दिक्-दिगन्त तक
मलय पवन को
सौरभ का वरदान दिया था।

चिन्तन की दीर्घ-वलय हिलकोरें
मन, प्रज्ञा, चिन्तन-धारा के
पीछे भी बैठा है कोई,
जो स्वीकार नही करता
व्यभिचार प्रकृति पर !
आह, केन्द्र वह ! नाच रहे
इन्द्रिय-दुख-सुख
अति क्षीण परिधि पर
चचल मन की ! —
ध्रुव-निश्चल वह !
मन का अहकार मन को
बहलावा दे, तुम
प्रायश्चित इसको कहते हो,
कहते हो तुम ग्लानि
स्वार्थ पर बलि होती जब अभिलाषा की !

. ..

"उस दिन मैंने सुना—कर्ण को
छल-बल से मारा अर्जुन ने
जयी हुआ कौन्तेय और राधेय पराजित !

दीप-मालिका से सुरभित
आलोकित अपना युद्ध-शिविर था,
पर कुन्ती के हृदय-गगन का
ज्योतिर्मय आलोक-पिण्ड
था ढला सदा को !
अस्त हो गया शौर्य-लोक का
ग्रह उज्ज्वलतम
बिना कक्ष जो जीवन के
आदर्शों को करता परिक्रमा !
ब्रह्म अण्ड ही गया निगल
उसकी सत्ता को ।

"आर्य वंश-उपवन से जिसका
उच्छेदन कर
तिरस्कार की निठुर धार से
फेंक दिया था अशुभ-अशोभन
जान-समझकर माली ने ही,
उसी पौध ने दिक्-दिगन्त तक
मलय पवन को
सौरभ का वरदान दिया था !

उसकी टहनी का प्रसून ही
मानवता की प्रतिमा पर
अर्पित डालो मे
सर्वोत्तम था !

"भूल गया मानव
अपने ही चक्रव्यूह मे !
और किसी दिन, यह साधन का
नशा ज्वार सा बढ आएगा,
डूब जायगा मानव का
अस्तित्व-पोत ही !
देह-गेंह के मोल
मनुजता बिक जाएगी !

"आह ! कामना और कसक का
द्वन्द्व मिटा—कामना विजयिनी
—विजय-केतु तेरा लहराया,
किन्तु कसक तो रही कौंधती
सदा वक्षतल के खडहर मे—
कर्ण तिरोहित !

आदर्शों का तीर्थ
धस गया ज्यो धरती मे ।
कालकूट मे डूब गया
ज्यो दीप्त कलाकर ।
ससृति का अहिवात
गया ज्यो झुलस अचानक ।
आर्य वश का शौर्य-हुताशन
हुआ अकिञ्चन ।
ससृति-वन मे कुसुमाकर को
मार गया दुर्दंठ दावानल ।

"मैंने जो कुछ देखा-सुना
महाभारत का दृश्य विलग था ।
तत्त्व-भेदिनी किसी दृष्टि ने,
वीर-प्रसविनी किसी जननि ने
नही विलोका ।

वीर–प्रसविनी ?
युद्ध–प्रसविनी क्यो न अभागिन ?
"

'वी र प्र स वि नी !'

कहते-कहते आनन पर
जम गया सघनित शोक-लेप,
द्रुत भवे अचानक खिची
पलक कुछ तने,
त्वरित भर गया श्वास,
प्रश्वास रुद्ध,
खुल गया मुख-विवर स्पन्द-हीन !
ईषत् उठ मुख-मण्डल, वक्षस्थल,
हस्त-चरण — पलभर स्तम्भित !
अवरुद्ध-कण्ठ से घर्षण कर
रुक-रुक नि सृत गम्भीर गहन
ध्वनि पुन मुखर ! बस मात्र
धैर्य, कर्त्तव्य-विभा के रक्षण मे—

"कुन्ती और कर्ण का
प्रादुर्भाव युद्ध था !

: ... .

अखुए-अकुर मे, मूल-सूत्र मे
होता है अभिव्यक्त बीज !

जग देखा करता---

शाख-पत्र-कोपल-प्रसून ।

प्रति बीज युद्ध का है उगता

आवरण तोड चट्टानो का ।

बोता है कोई अन्ध,

लगन से बढा एषणा

अन्य सीचता और काटता है उसको,

ढोती ससृति आदर्शों के बोरे भर-भर ।

जब कभी व्यष्टि की पीडा पर बसता समाज,

आतङ्क पिन्हाकर व्यष्टि सजाई जाती है,

आचार-नियम पाले जाते—

मानव बन जाता भोज्य भाग,

आडम्बर बनता पूज्य,

शक्ति सत्ता के जबडों की बढ़ती

[सत्ता—जो केवल अविश्वास,

दुर्वह कलङ्क मानवता पर

अस्तित्व मात्र जिसका कहता

मानव न हुआ है सभ्य,

शिष्ट, निष्पाप अभी,

जिसका विकास घोषित करता---

— बढता मानव मे पाप-भाग,
दानवता बढती, बर्बरता
बढती दिन-दिन !]
वह घडी युद्ध के बीज-वपन की होती है ।
सगुप्ति — भूख, भय, आतङ्को की है कराह !
सत्ता-लोलुपता आती है
आभूषण पहने देश-भक्ति,
जन-सेवा के ! "

सवेदित पश्चाताप-भार से
आनत ध्वनि-सवेग पुन ,
ज्यो अश्रु-भार, विद्युन्माला से
नमित सावनी मेघो का
सदेश बाध हिम-अचल अक से
नीचे फिसल सभलती आती पुरवाई !
अबला, ज्यो स्पन्दन तोल रही
अन्तस्-पीडा की नाडी का !
उद्वेग सकल एकाग्र—सिमट
वेदना मूल की ओर चले !
उखडी-असयता वाणी थी सकेत मात्र —

"प्रत्यञ्चा-टङ्कार, शिलीमुख-फलक,
गदा, करवाल-धार का
प्रति प्रहार-प्रतिकार
बरसता था मेरे अन्तर्जीवन पर।
दुबका था मन मलिन
कि जिसने विभ्रम को ही
विजय मानकर, बेच दिया था—
जननीपन, मातृत्व, स्नेह को,
घृणित वासना को जिसने
वात्सल्य बनाकर पुजवाया था।

"अवा-सदृश जलता अन्तस्तल,
सहमे अश्रु-कणो से छलछल
नयन, कपाट बन्द अधरो के—
अक्षत-चन्दन-धूप-दीप-
नैवेद्य उठाकर
मैंने थी आरती उतारी
विजयी कर की
कम्पित कर से।

"आह ! पवन उन्चास चल रहे !

. .

विलख रही है —
एक अभागिन पावन आत्मा,
मेरे पापो की परछाईं ने
जिसको अब तक भटकाया !
किसे दोष दू !
लो उधेडती हू अतीत की चट्टाने—
वरदान प्रथम वह कुन्ती का !
हा ! महा यशस्वी कर्ण
तुम्हारा ज्येष्ठ बन्धु था !
पिण्डदान दो अग्रज को !"
निश्वास दीर्घ—

* * *

विस्फारित नयन, भाव-उद्वेलित धर्मराज—
तन मे सिहरन,
कम्पन विस्फोत शिराओ मे,
खण्डित शिजिनी-सरीखे ढीले स्नायु-डोर

मन तृण-सा घूर्मित,
चक्रवात से दृढ विचार
आवन से ज्ञान-प्रवणता के सकेत-चित्र
ढह गए, छा गया —
चिर अबोध-सा भोलापन !
अपलक चितवन !

"हा ! जननि,
सत्य के अवगुण्ठन इतने प्रगाढ !
मैंने तो समझा
ऋजु भावो को सत्य-केतु,
पट को ही वास्तव लिया मान,
बन गया अकिञ्चन धर्मराज !
केवल रहस्य था कुरुक्षेत्र का रण-सगर
मैंने देखा प्रतिशोध,
कृष्ण ने और कहा,
सजय ने देखा राज-धर्म की आखों से,
अविजेय भीष्म वीरत्व-भैरवी को पाए,
पर तेरी आखो ने देखा
वीभत्स चित्र !"

" उस प्रखर शौर्य
उस ज्योति-पिण्ड से
था अपना सम्बन्ध गहन ?
लोहू का, पय का नाता था ?

" पौरुष के दग्ध हुताशन मे
इस पीढी का बस स्वर्ण
रह गया कर्ण, शेष सब
कास्य, लौह, पीतल निकले !
वह कुरुक्षेत्र की कुलिश-कसौटी पर
अंकित कर गया परीक्षण-रेख दीप्त !
वह अनल—
छार के पर्दे को धो देता था !
प्रतिकूल प्रभजन से जिसने
जलना सीखा— उत्साह-दीप से
मेरा अपना नाता था ?"

" हा धर्मराज,
कुण्ठा की नोक सदा उलझा
कण्टक की नोक यथा शबनम

प्रतिशोध-ताप से पिघल-खरा
आदर्शों से विकसा-निखरा
अभिशापो मे सघर्ष-निरत
उस तेज-विन्दु को
अपना कहने का क्षण है,
जिसने जीवन का वरण,
मौत का आलिङ्गन भी
किया सदा बलिवेदी पर ।

— ० —

भावाञ्जलि

कटि भर जल-तल मे
खड़े युधिष्ठिर भाव-विनत
अभिमन्त्रित पय-आपूर्य
भाव-सयत अञ्जलि,
आनन पर बिछलाती-
बिछजाती आह सजल,
स्नेहाश्रु उमडते
अर्द्ध—विकच अरविन्द नयन,
पल-पल आते थे छलक पलक,
तन पर पुलकावलि,
हूक-लदी श्रद्धा का उठता ज्वार
व्यग्र हिलता वारिधि-सा अन्तस्तल !
स्नेहार्द्र चक्रवाती भावो के मेघ अतुल
निज व्यथा-वृष्टि के लिए विकल

टकराते अविरल
कण्ठ देश पर उमड-उमड
लघु शब्द-सीपियो के
रन्ध्रो पर शीश पटक ।
निष्फल हिल जाते अधर-पटल ।

निस्तेज वदन, चेतस-विदग्ध,
हत-प्रभ, अधीर, निर्वाक्
धनञ्जय खडा ध्वान्त
प्रति निमिष हूक को
दबा रहा था सुबक-सुबक—
"हम नही बन सके
द्वापर के श्रीराम-लखन ।"
शोकाश्रु-स्नात करतल
निज पढता दृष्टि गाड,
अपलक निहार—
रह जाता आहत, मूक, विकल

पौरुष-हिमाद्रि-सा भीम स्तब्ध
था पोछ रहा चट्टानी बाहो से

रुक-रुक कर, सिसक-सिसक
अविराम प्रवह–
विस्तीर्ण कपोलो पर दृगजल !

पत्निया कर्ण की उठी फफक—
सताप-शोक की कुलिश-अर्गला मे
जकडा वैधव्य थहर,
जड़ मौन-सदृश ठिठुरा अब तक,
चैतन्य, बोध, प्रज्ञा, सज्ञाओ के खण्डहर
ढह भार बने दुर्वह, उदास, छाए ऊपर !
पय-दान दृश्य लख
उठा दलक दुर्दम पहाड, फूटा विलाप !
घुटते क्रन्दन के तीक्ष्ण दश से
विकल, झनझना उठा पवन !

आनत महिमामय शीश,
विनत गोधूलि-जलज-सा मुखमण्डल,
हत धर्मराज—
अजलि से बिखरे—
पावन जल-सीकर झर-झर !

वारिज-नयनो से —
स्नेह-विन्दु उज्ज्वल, नीरव ।
दृढ-सत्यपूत अकलुष वाणी से —
"धर्मराज का
भाव-उच्छ्वसित स्नेह सकल
स्वीकार करो
मेरी समग्र व्यक्तित्व-विभा के
तुम अग्रज ।
निष्ठुर विडम्बना—बनकर भी मैं नही अनुज ।
अब हार गया मैं कुरुक्षेत्र का रण सगर ।
यह धर्मराज साकार व्यग्य मानवता पर
तुम धर्मराज निश्चय, निस्सशय, तेजोमय ।"

बैठी जननी——
अविकल, प्रशान्त ।
मृदु आभा-चर्चित सौम्य वदन,
अनुराग-दीप्त लोचन-
बरसाते ज्योति-किरण ।
छँट गई विचारो की तलछट,
मृदु-मद-मुखर मथर

प्रवाह निर्मल, निश्छल !
वात्सल्य, स्नेह, करुणा,
ममता के आनन पर
जीवन की लाली चली उभर !
विश्वासो की धमनी मे मधु जीवन-स्पन्दन !
अन्तराकाश मे भरे मृदुल आशाओ के
सतरगे पर, मधु स्वप्निल स्वर !
सृजना के रश्मिल कण-कण पर
किलकारी भरता आकर्षण !
उल्लास-स्नात नव नील गगन !

अस्ताचल के नव भव्य शिखर
रवि विहस लुटाता रश्मि तरल
आह्लाद-दीप्त आनन उज्ज्वल !
सौन्दर्य-कल्पना-सा मादन,
मृदु पुलकन से अभिभूत
प्रतीची का तनमन !
रश्मिल मुसुक्यानो से आवृत
द्रुम शिखर-शिखर !
आशीष-विभा छाई भूपर !

मृदु मञ्जुल अन्तिम किरण उलझ
कुन्ती की अलको मे सुन्दर
विस्मित कुछ लिखती सिहर-सिहर ।

रवि का आभा-उल्लास नवल
लहरो पर फैला मृदुल-मृदुल ।
मन्दाकिनि बहती—ध्वनि कल-कल
मुखरित शाश्वत सन्देश सरल—
"मैं तर्क-तुला पर वारि-पतन ।
भावो की मैं गङ्गा पावन ।
अनुभव-प्रज्ञा के सुदृढ तत्र
गढते उपयोगी तर्क-यत्र ।
तोडो इनसे तुम आडम्बर,
खोलो कुण्ठा की ग्रन्थि गहन ।
वैषम्य—तर्क का विष-विकार,
भावो से करलो परिष्कार ।
शाश्वत-सम्मुख हो तर्क विनत,
भावो का लोक न हो आहत ।
ज्योत्स्ना का सरगम अमृत व्यष्टि ।
निर्मम फिर क्यो बनती समष्टि ?

दे तर्क तुम्हे अभिनव सस्कृति !
भावो की चिति, भावो मे स्थिति !
जीवन का सहजायी प्रकाश
भरता ससृति मे मधु विलास !"